* श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः *

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष १ | गौराब्द ४६९, मास—पुरुषोत्तम ३०, वार—गर्भोदशायी
शुक्रवार, ३० भाद्र सम्वत् २०१२, १६ सितम्बर १९५५ | संख्या ४

श्रीश्रीकेशवाचार्य्याष्टकम्

(त्रिदण्डिस्वामी-श्रीमद्भक्तिवेदान्त-त्रिविक्रम महाराज-कृतः)

नमो ऊँविष्णुपादाय आचार्य्य-सिंह-रूपिणे ।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव इति नामिने ॥१॥
श्रीसरस्वत्यभीप्सितं सर्वथा सुष्ठु-पालिने ।
श्रीसरस्वत्यभिन्नाय पतितोद्धार-कारिणे ॥२॥

ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव नामक आचार्य-सिंहको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

जो (जगद् गुरु) आचार्य श्रील सरस्वती प्रभुपादके अभीप्सित अथवा मनोभीष्टका सर्वतोभावेन सुष्ठुरूपसे पालन करने वाले हैं एवं जो पतित-उद्धारके कार्योंमें उन्हीं श्रील सरस्वतीठाकुरसे अभिन्न हैं, उन्हें नमस्कार है ॥२॥

वज्रादपि कठोराय चापसिद्धान्त नाशिने ।
सत्यस्यार्थे निर्भीकाय कुसंग-परिहारिणे ॥३॥

जो अपसिद्धान्तको ध्वंस करने, दुःसंग दूरकरने तथा सत्यका स्थापन करनेमें निर्भीक और वज्रकी अपेक्षा भी कठोर हैं, उन्हें नमस्कार है ॥३॥

अतिमर्त्य-चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च पालिने ।
जीव-दुखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम-दायिने ॥४॥

जो अतिमर्त्य (अप्राकृत) चरित्रविशिष्ट हैं, जो अपने आश्रितजनोंके पालनकर्ता हैं, जो जीवोंके दुःखसे सर्वदा ही दुःखी है तथा जो नाम-प्रेम प्रदान करने वाले हैं, उनको नमस्कार है ।

विष्णुपाद—प्रकाशाय कृष्ण-कामैक-चारिणे ।
गौर-चिन्ता-निमग्नाय श्रीगुरुं हृदि धारिणे ॥५॥

जो साक्षात् श्रीविष्णुपादपद्मके प्रकाशस्वरूप हैं, जो केवल कृष्ण-कामनाकी पूर्तिमें ही लगे रहते हैं, जो चैतन्य महाप्रभुकी चिन्तामें निमग्न हैं तथा जिन्होंने अपने श्रीगुरुदेवको सर्वदा हृदयमें धारण कर रखा है, उन्हें नमस्कार है ।

विश्वं विष्णुमयमिति स्निग्ध-दर्शन-शालिने ।
नमस्ते गुरु-देवाय कृष्ण-वैभव-रूपिणे ॥६॥

जो विश्वका विष्णुमय दर्शन करते हैं। ऐसे स्निग्ध दर्शनसे युक्त, कृष्ण-वैभवरूपी श्रीगुरुदेवको नमस्कार है ।

श्रीश्रीगौड़ीय-वेदान्त-समितेः स्थापकाय च ।
श्रीश्रीमायापुर-धाम्नः सेवा--समृद्धि--कारिणे ॥७॥

जो गौड़ीय वेदान्त समिति के संस्थापक हैं एवं (श्रीगौर--जन्मस्थान) श्रीश्रीमायापुर धामकी सेवाको समृद्धि करने वाले हैं, उनको नमस्कार है ।

नवद्वीप-परिक्रमा येनैव रक्षिता सदा ।
दीनं प्रति दयालवे तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥८॥

जिनकेद्वारा श्रीधाम नवद्वीप-परिक्रमा सदा रक्षिता हैं एवं जो दीनजनोंके प्रति दयालु हैं, उन श्रीगुरुदेवको नमस्कार है ।

देहि मे तव शक्तिस्तु दीनेनेयं सुयाचिता ।
तव पाद-सरोजेभ्यो मतिरस्तु प्रधाविता ॥९॥

हे गुरुदेव ! यह दीन व्यक्ति सब प्रकारसे आपके शक्तिकी (कृपाकी) कामना करता है उसे मुझे दान करें । आपके पाद-पद्मोंमें मेरी मति लगी रहे ।

प्रतिकूल मतवाद

प्रतिकूल मतवादीका विचार-पत्र

एक माननीय पत्र लेखकने लिखा है—"मेरी समझसे भक्तिका अनुशीलन केवल नीरव और निर्जन में ही किया जा सकता है। उसके लिए किसी प्रकार की सभा-समिति या आन्दोलन करना भक्तिका विरोधी है—ऐसा मेरा अनुमान है। इसका कारण यह है कि उससे प्रचार अथवा प्रतिष्ठाकी भावना आ सकती है, जो भक्ति-पथमें बाधा-स्वरूप है। क्योंकि श्रीचैतन्य-देवने जीवोंको मानशून्य होनेके लिए उपदेश दिया है तथा विश्वमें सभीको माननीय समझकर उन्हें सम्मान देनेके लिए कहा है।"

उत्तरः—

महाभागवत और भागवतका अधिकार

भक्तों की तीन श्रेणियां मानी गई है– (१)कनिष्ठ-भागवत (२) मध्यम भागवत (३) उत्तम या महा भागवत। इनमें जीवमात्रको सम्मान देनेका अधिकार केवल महाभागवतोंका है। मध्यम भागवत-श्रेणीके भक्तोंके क्षेत्रमें श्रीकृष्णमें प्रेम, हरिजनोंसे मित्रता, अज्ञ लोगोंके प्रति अनुग्रह तथा विद्वेषियोंकी उपेक्षा करना ही भागवत जीवनका आदर्श है। जीव जिस अधिकारमें रहकर कृष्णका अनुशीलन करता है, उस अधिकारके अनुसार ही उसकी निष्ठा होनी चाहिये। वैसी निष्ठा ही उसके भजनमें सहायक होती है। अधिकारमें उलट-फेर होने पर वही दोषके रूपमे बदल जाता है।

अज्ञान दूर करना मध्यम भागवतका ही कर्तव्य है।

जिन्हें निरपेक्ष भावसे भक्तिके स्वरूपकी आलोचना करनेका अवसर नहीं मिला है, उनकी सहायताके लिए श्रीकृष्ण-प्रेम-प्रदाता महावदान्यवर श्रीगौर सुन्दरने उपर्युक्त विचारोंका प्रचार स्वयं अपने मुखारविन्दसे किया तथा स्वशिक्षित अप्राकृत शक्ति-सम्पन्न श्रीरूपादि आचार्यवर्गोंके द्वारा विश्वभरमें करवाया है। उसी सर्वमान्य सिद्धांतज्ञानके अभावमें हम बहुधा स्वार्थ-परताके वशीभूत होकर कपोल-कल्पित सापेक्ष विचारोंको व्यक्त कर अपनी अनभिज्ञताका परिचय देते हैं। फिर, कभी वैसे विचारोंकी असारता संदर्शन करनेका सौभाग्य उदय होनेपर उनसे निरपेक्ष हो सकते हैं। यदि मध्यम भागवत किसी प्रतिकूल धर्म की आलोचना करता है तो इसका अर्थ न तो उस धर्मके महापुरुषोंका अपमान है और न अपने भागवत क्षेत्रके अधिकारोंका उल्लंघन। मध्यम भागवत अधिकारमें अनभिज्ञ लोगोंकी उपेक्षा करनेका विधान नहीं है, परन्तु जीवोंकी भक्तिबाधक अज्ञान-राशिको दूर करनेका विधान अवश्य है।

अहैतुकी उत्तमा भक्ति ही अभिधेय और पञ्चम पुरुषार्थ है

श्रीगौर सुन्दरके श्रीमुखकी वाणियोंसे हम जान पाते हैं कि श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य मायिक अभिलाषाको दूरकर, निर्भेद ब्रह्मज्ञानका आवरण, नित्य नैमित्तिक आदि जीवोंके कर्मफल-प्रसव करने वाले भोगोंके आवरण तथा शिथिलता आदिके आवरणसे उन्मुक्त होकर अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी सेवाको शुद्धा अहैतुकी उत्तमा भक्ति कहा जाता है। श्रीकृष्ण-प्रेमरूप प्रयोजन सिद्धिका अभिधेय और निरपेक्ष जीवोंका एकमात्र परम पुरुषार्थ भक्ति ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-इन चतुर्वर्गोंसे परे पंचम पुरुषार्थ है। उस भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम।

अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान और शैथिल्य आदि अनर्थ-समूह भक्तिके बाधक हैं और साधु संगके प्रभावसे उनका दूरीकरण

सधान अवस्थाके प्रारम्भमें श्रीकृष्ण विमुखता जैसे अनर्थ-समूह जीवको भक्तिनिष्ठ होनेमें विघ्न

डालते हैं। ऐसे अनर्थोंको चार भागोंसे बांटा गया है (१) अन्याभिलाष, (२) फल भोगमय कर्मका आवरण (३) फल त्यागमय ज्ञानका आवरण (४) कृष्ण-सेवामें औदासिन्यरूप शिथिलताका आवरण। जीव इन अनर्थोंके हाथोंमें पड़कर प्रलाप ग्रस्त रोगीकी तरह अपनी चिकित्साके लिए कितने ही प्रकारसे रोग-मुक्ति की कल्पनाएँ करता है किन्तु उससे रोग शान्ति होना तो दूर रहा उत्तरोत्तर रोगरूप उपाधि बढ़ती ही जाती है। इसलिए स्वार्थका परित्यागकर निष्किंचन साधुओं के आश्रयमें ही कृष्ण-अनुशीलनकी व्यवस्था दी गयी है—यह श्रीगौरहरिका प्रकाशित पारलौकिक रहस्य है। साधुसंग करनेसे असाधुसंगका आकर्षण जीवको पराभूत नहीं कर सकता है। केवलाद्वैत पंथियोंका निर्भेद ब्रह्मज्ञान, स्वेच्छाचारियों अथवा पुण्यमय कर्मियोंका इहलोक-परलोकका फलभोग या शैथिल्य जीवोंके अनर्थ हैं। साधुसंगके प्रभावसे ये अनर्थ-समूह दूर होते हैं।

अनर्थयुक्त अवस्थामें निर्जन-भजन भक्तिका मार्ग नहीं

ऐसे अनर्थोंका मल उदरमें पूर्ण रखकर उनके बाहर निकलनेका पथ बन्द कर जीवोंमें नीरव और निर्जन होनेकी सामर्थ नहीं है। निरवता या निर्जनताका ढोंग दिखलानेपर भी वास्तवमें भक्तिका अवांतर फल शब्द रहित या जन रहित सम्भव नहीं है। कृत्रिम साधनोंकी अकर्मण्यता—विश्वमें सभ्यता विस्तारके आदिम कालसे आरम्भ कर वर्त्तमान समय तकके इतिहासमें—जाज्वल्यमान रूपसे प्रमाणित होती आयी है। ऐसा छलनामूलक पथ भक्ति मार्गमें स्वीकार नहीं किया गया है।

प्राकृत निर्जनता और प्राकृत नीरवता भक्तिके विरोधी हैं

भीमभट्ट जैसे कर्मवादियोंके फलसे निराश होकर यदि कोई भक्ति विरोधी जीव मौन होकर एकान्त वन में जाकर रहे और इतनेसे ही यह समझे कि मुझे कृष्ण भक्ति हो गई है तो ऐसा समझना उसकी बड़ी भारी भूल है। मौन और निर्जन अवस्था कर्मफलके अधीन जीवके लिए आकाश-कुसुम या शश-शृंगकी तरह असंभव है। कृष्ण-भक्ति उदित होनेपर जीव मध्यम भागवत-अधिकारमें पहुँच जाता है। भागवत अधिकार प्राप्त करनेके साथ ही साथ प्राकृत विषयीजनका संग तथा प्राकृत उपदेशकों या विचारकोंका कुसंग आपही आप छूट जाता है, तब वह जीव शुद्ध भक्तोंकी मण्डलीमें कृष्ण-सम्बन्धी वार्त्तालाप करनेके योग्य हो सकता है। भक्त प्राकृत निःसंग या प्राकृत नीरवता रूप मौन-धर्मको भक्तिका विरोधी समझता है। ऐसे मौन और निर्जन दोनों धर्म भक्तिके अनुकूल नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों धर्मही असत् अर्थात् नित्य काल स्थायी नहीं हैं। जो काल द्वारा क्षुब्ध है वही फिर वैकुण्ठ कैसे हो सकता है! भक्तके लिए निःसंगकी अपेक्षा साधु संग लाभदायक है। साधु संगसे कुसंगका दोष और नाना मतवादोंकी मूढ़ता दूर हो जाती है। निर्विशेषवादी जीवके वशमें होकर जिन मतवादोंका प्रचार करते हैं, वे भक्तोंके लिए बिलकुल ही प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं। "न निर्विण्णो नातिसक्तः भक्तियोगस्य सिद्धिदः" * और "आधिक्ये न्यूनतायाञ्च च्यवते परमार्थतः" †—ये दोनों श्लोक इस प्रसंगमें धीर भावसे आलोचनीय हैं।

भक्तिके प्रचार और प्रतिष्ठामें ही सभा-समितियोंकी सार्थकता है

जगत्में सभा-समितियोंका यदि कुछ फल है तो वह हरिभक्तिके प्रचार और प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे ही होना उचित है। यदि सभा-समितियोंके अनुष्ठान हरिभक्तके उद्देश्यसे नहीं होते तो वैसी सभा-समितियोंकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। कुछ प्राचीन ढंगके सकाम कर्मियोंका कहना है कि प्राचीन कालमें सभा-समितियाँ नहीं थीं। किंतु श्रीचैतन्यचरितामृतके पाठक इष्टगोष्ठीके

* जिनका विषयोंसे वैराग्य अथवा उनमें अति आसक्ति नहीं है उन लोगोंका ही भक्ति-योग सिद्ध होता है।

† आवश्यकतासे अधिक या कमीके कारण परमार्थसे पतन हो जाता है।

(सत्संगके) विषयमें अवगत हैं। श्रीमद्भागवतमें भागवत-श्रवण-सभाकी बात आपलोगोंसे छिपी नहीं है। श्रवण और कीर्त्तन ही साधनकी चरम सीमा हैं- श्री गौरहरि तथा श्रीभागवतजन जगत्के लिए सर्वदा यही उपदेश प्रदान करते हैं। पञ्चरात्रका उपदेश है—

"सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिःपरा भवेत॥"

अर्थात्—"हे नारद! हरिके उद्देश्यसे शास्त्रोंमें जिन जिन क्रियाओंका विधान दिया गया है साधु लोग उन्हें वैधी-भक्ति कहते हैं। इसी वैधीभक्तिका पालन करनेसे प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है।

प्राकृत मौन-अमौन और जन-युक्त या निर्जन धर्म भक्तिके प्रतिकूल हैं।

मूक और जड़ होनेसे ही भक्ति होती है—ऐसा कोई भी विज्ञ व्यक्ति नहीं कहते। नीरवता और निर्जनता दोनों ही प्राकृत धर्म हैं। भक्ति अपाकृत वस्तु है। सुतरां प्राकृत शब्द-त्याग अथवा प्राकृत शब्द-ग्रहण दोनों ही भक्तिके प्रतिकूल हैं; प्राकृत जन-संग या प्राकृत जन-रहित्य दोनों ही भक्तिके प्रतिकूल हैं। इसीलिए खूब ऊँचे स्वरसे अप्राकृत कृष्णनामका कीर्त्तन करना चाहिए। "मैं ज्ञानी विचारक हूँ" ऐसे निजभोगपर अव्यक्त वाक्-वेग अर्थात् विषयोंकी चर्चा परित्याग कर मौनी (केवल हरि कीर्त्तनकारी) बन जाओ-यही सभी विचारोंकी सर्व शेष बात है। चैतन्य महाप्रभुने कहा है—

"यारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।
आमार आज्ञाय गुरु हञा तार' एई देश॥
कभुना बाधिबे तोमार विषय-तरङ्ग।
पुनरपि एई ठाँई पाबे मोर संग॥

× × ×

एइ मत यार घरे करे प्रभु भिक्षा।
सेई ऐछे कहे, ताँरे कराय एई शिक्षा॥"

(च. च. म. ७।१२८-३०)

[अर्थात् "जिसको देखो उसे 'कृष्णनामका' उपदेश प्रदान करो। मेरी आज्ञासे पहले गुरु होकर तत्पश्चात् समस्त देशका उद्धार करो। तुम्हारे इस पथमें विषयकी तरंगे बाधा नहीं दे सकती हैं। तुम पुनः इसी जगह मेरा संग पाओगे। इसी प्रकार महाप्रभु जिनके घर भिक्षा करते, उन्हें यही उपदेश प्रदान करते थे तथा वे लोग भी ऐसा ही कहते और करते थे।"]

नीरव भजनके विरोधमें श्रीजीव गोस्वामीपाद

श्रीजीव गोस्वामीने निरव भजनका विरोध करते हुए कीर्त्तनके सम्बन्धमें लिखा है—"नामकीर्त्तनञ्चेदं उच्चैरेव प्रशस्तं। नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्नित्यादौ। अत्र यथोपदिष्टं: कलियुग-पावनावतारेणः श्रीभगवताः—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरि रिति।

यद्यन्या भक्तिः कलौ कर्त्तव्या तदा कीर्त्तनाख्याभक्तिसंयोगेनैवेत्युक्तम्।"

[अर्थात् नामकीर्त्तन उच्चस्वरसे करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है कि भगवान् श्री अनन्तदेवका नाम लज्जा परित्यागकर उच्च स्वरसे लेना चाहिए। इस विषयमें कलियुग पावनावतारी श्रीभगवानने उपदेश दिया है—'तृणकी अपेक्षा भी क्षुद्र, वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं मानहीन और दूसरोंको मान देकर सर्वदा श्रीहरिनामका कीर्त्तन (नीरव नहीं) करना चाहिए।' कलियुगमें यदि अन्य कोई दूसरी भक्ति (भक्तिके ६४ अंग होते हैं। उनमें कीर्त्तनको छोड़कर अन्य कोई एक अंगरूप भक्ति) करना भी पड़े तो कीर्त्तनाख्या भक्तिके साथ ही उन्हें करना चाहिए – ऐसा कहा गया है।"

मायावादके प्रचारकी प्रतिष्ठा प्रचार-प्रतिष्ठाका चरम दोष है

जहाँ हरिकथाका कीर्त्तन नहीं होता, जहाँ हरिकथाका प्रचार नहीं, वहीं पर ध्यानादि कृत्रिम विषयोंकी चर्चा प्रबल होती है। जहाँ पर भक्तोंका संग नहीं है वहाँ मायामें फँसे बद्ध जीवोंकी सभा-समितियाँ होती हैं। जहाँ कीर्त्तन नहीं, श्रवण नहीं, पक्षान्तरमें फल्गु वैराग्यकी बातें वंचित समाजको ठगनेमें समर्थ होती हैं, वहाँ अप्राकृत युक्त-वैराग्य नहीं है। फल्गु-वैराग्य

प्राकृत विषय है, इसलिए वह जीवोंका किसी प्रकार भी कल्याण करनेमें समर्थ नहीं होता है। फल्गु-वैराग्यके अधीन होकर कृष्ण-सेवाको (अनुशीलनको) प्राकृत विषयके अन्तर्गत माननेसे जो अपराध होता है तथा विषय और कृष्णको एक बराबर समझनेसे जिस विषपूर्ण मायावादका आश्रय करना हो जाता है उसकी उपलब्धि 'साधुसंगके बिना जीव कैसे कर सकता है? भक्त, साधुसंग परित्याग कर अपने कल्पित विचाररूप असाधु-भावोंको हृदयमें पोषण कर अपनेको निःसंग और गौनी समझनेसे क्या वह मायिक प्रतिष्ठा और प्रचारकी सेवा करनेसे बच सकता है? मायाके प्रचार अथवा मायावादके प्रचारके फल-स्वरूप भक्ति-प्रचार और भक्ति प्रतिष्ठाको जड़से उखाड़ फेंकनेकी असत् इच्छा क्या प्रचार या प्रतिष्ठाके हेय-त्वकी चरम सीमा नहीं है?

शुद्धा भक्तिके प्रचारकोंमें प्रतिष्ठा-विष्ठाकी कामना नहीं होती।

भक्त, भगवान् और भक्तियोगमें अचिन्त्य-द्वैताद्वैत नित्य भावमय संबन्ध है। नित्य भक्तिसे विमुख होकर अभक्तिका आदर्श निर्भेद-ब्रह्मज्ञान, नित्य-नैमित्तिक भोग्य कर्मवाद और सेवा-शैथिल्यवादका आदर कर भक्तिविरोधी स्वार्थपर वृत्तिरूप अवैध-साधन करनेसे जीवका कल्याण किस प्रकार हो सकता है? यदि जीव अनात्म विवेकके बलपर विरूपबुद्धिसे (माया-द्वारा अशुद्ध बुद्धिसे) अपनेको मुमुक्षु, बुभुक्षु या उदासीन मानकर अपनी मायिक प्रतिष्ठा या प्रचारकी उत्कट कामनाके वशवर्त्ती होकर अप्राकृत श्रवण-कीर्त्तनाख्या भक्तिके प्रतिकूल भावको हृदयमें भूलसे पोषण करता है और भक्तोंमें प्रतिष्ठारूपी विष्ठा हो सकती है—ऐसी भ्रान्त धारणा करता है, तो भक्तोंको उसे आत्मघाती जानकर चुप हो जाना चाहिए। श्रील भक्तिविनोदने कहा है:—

"वैष्णव चरित्र, सर्वदा पवित्र, येइं निन्दे हिंसा करि।
भकतिविनोद, ना संभाषे तारे, थाके सदा मौन धरि॥"

[अर्थात्—वैष्णवोंका चरित्र सर्वदा पवित्र होता है। जो व्यक्ति ऐसे वैष्णवोंकी निन्दा करते हैं—भक्तिविनोदठाकुरका कहना है—मैं ऐसे व्यक्तियोंसे बात नहीं करता, मैं उनके निकट सर्वदा मौन धारण कर रहता हूँ।]

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्ति-
सिद्धान्त सरस्वती

प्रतिष्ठाकी आशा

ज्ञानवैराग्यादि सभी धर्मोंके अन्तरालमें प्रतिष्ठाकी आशा

हम लोग आत्मोन्नतिकी जितनी भी चेष्टा क्यों न करें, धार्मिक होनेका जितना भी यत्न क्यों न करें अथवा जितनी भी ज्ञान-चर्चा क्यों न करें, प्रतिष्ठाकी आशा हमारे चित्तको उतने ही अधिक मलिन करती है तथा चरित्रको दूषित करती है। अनेक यत्नकर काम, क्रोध, लोभ, मोह और मदको दूर करते हैं, कठोर तपस्याकर इन्द्रियोंको दमन करते हैं, तथापि हमारे हृदयमें अत्यन्त गुप्तरूपसे प्रतिष्ठा-शारूप साँपका बच्चा धीरे-धीरे सम्वर्द्धित होता जाता है। अष्टांगयोग शिक्षाकर योगीरूप से प्रतिष्ठा पानेकी कामना करते हैं। यदि कोई कहे कि मेरी शिक्षा केवल धूर्ततामात्र है—केवल जनताको ठगने के लिये है, तभी मेरे क्रोधकी आग भभक उठती है। मैं अनेक शास्त्रोंकी आलोचना कर अपनेको ब्रह्म-तत्त्वमें लीन होनेकी चेष्टा करता हूँ। यदि कोई कहे, यह प्रक्रिया निष्फल है, तभी मेरा मन उद्विग्न हो जाता है और अपने निन्दककी निन्दा करने लगता है। शाम, दाम, तप, अस्तेय आदि दश विध धर्मकी शिक्षा करते हैं और नित्यनैमित्तिक कर्मोंको करते-करते संसार यात्राका निर्वाह करते हैं। अगर कोई कहे कि कर्म-काण्ड केवल निरर्थक श्रममात्र है, तभी हमारे मनमें दुःख होता है। ऐसा

क्यों होता है ?—क्योंकि हमारी प्रतिष्ठा नष्ट होने से हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

भुक्ति (लौकिक सुख) और भुक्तिकामी अशान्त और प्रतिष्ठाके दास होते हैं।

कर्मी, ज्ञानी, योगी, प्रभृति जब लौकिक सुख अर्थात् भुक्ति और मुक्तिकी आशामें इधर-उधर भटकते फिरते हैं, तब उन्हें शान्ति कहाँ ? अतः वे प्रतिष्ठाकी हरी आशाका परित्याग कहीं कर पाते। किन्तु भुक्ति-मुक्ति पिपासा शून्य वैष्णवोंके लिये प्रतिष्ठाकी आशा नितान्त ही निकृष्ट है।

वर्तमान वैष्णव-आचार्य और प्रतिष्ठा

आजकल जो वैष्णव धर्मके आचार्य है, वे किसी तरह असम्मान बर्दास्त नहीं कर सकते। वे पहले ही सभीके मस्तकपर पैर उठाकर अपना गौरव वृद्धि करनेकी चेष्टा करते हैं। आचार्य रूपसे दूसरे लोग सम्मान करें—यह अन्याय नहीं है; किन्तु उस सम्मानको बटोरनेका जो स्वयं प्रयत्न करते हैं, उनका श्रेय कहाँ रहा ? फिर अगर किसी व्यक्तिने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम नहीं किया तो ऐसा देखकर उसपर क्रोध प्रकाश करना अति निन्दनीय कार्य है। आचार्योंका सम्मान करनेके लिये सज्जन लोग उनके बैठनेके लिये पृथक, आसन दिया करते हैं। किन्तु इन आचार्योंके आसनपर अगर कोई दूसरा व्यक्ति बैठ जाय और इससे उन आचार्योंको यदि क्रोधकी उत्पत्ति होती है तो यह बड़े दुःखकी बात है। ऐसा क्रोध केवल प्रतिष्ठाकी आशासे उत्पन्न होता है।

प्रतिष्ठाकी आशाका त्याग करना दुष्कर है

वैष्णवोंमें कुछ लोग गृह त्यागकर भेक (भेष) ग्रहण करते हैं। गृहस्थ आश्रममें प्रतिष्ठाकी आशा अधिक होगी—ऐसा समझकर शान्ति परायण व्यक्ति संसार त्यागकर भेक ग्रहण करते हैं। फिर ऐसी अवस्थामें भी प्रतिष्ठाकी आशा अधिक बलवती हो उठती है। अगर किसी भेकधारीका सम्मान न किया जाय तो वे उबल पड़ते हैं। गृहस्थ वैष्णव आचार्यों तथा भेकधारी वैष्णवोंमें भी अगर प्रतिष्ठाकी आशा रही तो फिर किसका चित्त उस आशासे शून्य हो सकता है।

कृष्ण-सेवाके बिना प्रतिष्ठाकी आशा दूर नहीं होती

हमने बहुधा चिन्ताकर तथा सन्तोंके उपदेश संग्रह कर समझा है कि जब तक प्रतिष्ठाकी आशा दूर नहीं की जाती तब तक 'मैं वैष्णव हो गया हूँ'—समझना नितान्त भ्रम है। केवल मौखिक दैन्य करने से कुछ नहीं होता। हम कहा करते हैं, "मैं वैष्णवोंके दासोंके दास होने योग्य भी नहीं," किन्तु मन ही मन सोचते हैं कि श्रोतागण ऐसी बात सुनकर मुझे शुद्ध वैष्णव समझकर प्रतिष्ठा देंगे। हाय ! प्रतिष्ठा की आशा हमें छोड़ना नहीं चाहती। अतएव वैष्णव-वाग्रगण्य श्रील रघुनाथ दास गोस्वामीने कहा है—

"प्रतिष्ठाशा धृष्टा श्वपच-रमणी मे हृदि नटेत्,
कथं साधुः प्रेमा स्पृशति शुचिरेतन्मनु मनः।
सदा त्वं सेवस्व प्रभु-दयितसामन्तमतुलं,
यथा तां निष्कास्य त्वरितमिह तं वेशयति सः॥"

(मनः शिक्षा—७)

अर्थात् जितने दिन तक मेरे हृदयमें प्रतिष्ठा-शारूप निर्लज्ज चण्डालिनी नृत्य करती रहेगी, उतने दिन तक निर्मल-साधु-प्रेम हमारे मनको किस तरह स्पर्श करेगा ? अतएव हे मन ! तुम अपने प्रभु श्री-कृष्णके अतुलनीय सामन्तरूप (योद्धारूप) शुद्ध-वैष्णवोंकी सेवा करो। ऐसा करनेसे वे उस चण्डा-लिनीको तुम्हारे हृदय मन्दिरसे शीघ्र दूरकर प्रेम वस्तुको प्रवेश करायेंगे।

विशुद्ध वैष्णवोंके संगसे प्रतिष्ठाकी आशाका विलोप

उक्त महाजन वाक्यसे हम क्या सीखते हैं ? हम शिक्षा पाते हैं कि केवल ग्रंथचर्चा, और जिन व्यक्तियोंने प्रेमकी अवस्था प्राप्त नहीं की है उनके उपदेश तथा शारीरिक योगादि द्वारा प्रतिष्ठाकी आशा दूर नहीं हो सकती। केवल विशुद्ध-वैष्णव संग और वैष्णवोंकी सेवाद्वारा वह निश्चत रूपसे दूर होती है। हम विशेष यत्नके साथ विशुद्ध वैष्णवोंका अनुसन्धान कर उनका संग और उनकी सेवा करेंगे—यही हमारा परम कर्त्तव्य है।

सत्संग ग्रहण और असत्संग-त्याग एकही बात है।

वैष्णवोंके संगसे हमारे हृदयमें साधुता उत्पन्न होगी एवं असाधुता सम्पूर्णरूपसे दूर हो जायगी। हृदय विशुद्ध होनेसे साधु-वैष्णवोंके हृदयस्थ प्रेम-सूर्यकी किरणें हमारे हृदयमें प्रवेश कर प्रेमरूपसे प्रकाशित होगीं इसके सिवा कोई अन्य उपाय नहीं। साधु बननेके लिए यही स्वाभाविक उपाय है। अन्य प्रकारकी सारी चेष्टाएँ विफल हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सत् स्वभाव ग्रहण और असत् स्वभाव त्याग एकही बात है।

साधु-संगके प्रभावसे प्रतिष्ठाकी आशा दूर होती है और कृष्णप्रेम लाभ होता है।

प्रेम धर्म केवल विशुद्ध कृष्ण परायण आत्माओं में निवास करता है। प्रेम अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता। प्रेम एक आत्मासे दूसरी आत्माओं में संञ्चारित होता है; जैसे एक मेघसे दूसरे मेघोंमें विद्युतधर्म सञ्चारित होता है। संग-क्रमसे जब प्रेमकी लहर वैष्णव आत्मासे दूसरे जीवोंकी आत्मामें स्वभावतः प्रवेश करती है तभी अन्य जीवोंके हृदयका कुवासना रूप मन्दभाव दूर हो जाता है और तब साधु स्वभाव पहले पहल सञ्चारित होता है। सभी महद्गुन प्रेमके संगी हैं। अतः प्रेमके प्रवेश करनेसे उसी समय सभी महद्गुन अग्रसर होकर हृदयको शुद्ध कर देते है। अतएव साधुसंगसे प्रतिष्ठाकी आशाको दूर करना कर्त्तव्य है।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीलठाकुर भक्तिविनोद

मायावादकी जीवनी

[वर्ष १, संख्या ३, पृष्ठ ६६ के आगे]

शंकर-मतमें भी जगत् मिथ्या है

आचार्य शंकरने भी बुद्धदेवका पदाङ्क अनुसरण कर जगत्का कारण त्रिकाल शून्यस्वरूप एक तत्त्वको स्वीकार किया है। उसका नाम अविद्या है। यह अविद्या एक सद् असद् विलक्षण अनिर्वचनीय तत्त्व है अर्थात् अविद्या न तो सत् है न असत्; इन दोनों से विलक्षण होनेसे उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। श्रीशंकरने अपने 'अज्ञान बोधिनी' ग्रन्थमें जगत्के सम्बन्धमें जो लिखा है, उसकी आलोचना करनेसे इस विषयकी सत्यता उपलब्धि की जासकती है। उनका आठवाँ वाक्य इस तरह है—

"भो भगवन्! यद् भ्रम मात्रसिद्धं तत् किं सत्यम्? अरे यथा इन्द्रजालं पश्यति जनः व्याघ्रजलतड़ागादि असत्यतया प्रतिभाति किम्? इन्द्रजालभ्रमे निवृत्ते सति सर्वं मिथ्येति जानाति। इदन्तु सर्वेषामनुभव सिद्धम्।"

उक्त वाक्योंमें उन्होंने जगत्को भ्रममात्र एवं इन्द्रजालकी तरह सम्पूर्ण मिथ्या कहा है। 'निर्वाण-दशकके' छठवें श्लोकमें भी "न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिर्न विश्वे।" इत्यादि वाक्योंमें उन्होंने भी बुद्ध की तरह जगत्का अस्तित्व अस्वीकार किया है। वे और भी कहते हैं—

"आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं,
सत्यज्ञानानन्दरूपेण विमोहात्।
निद्रामोहात् स्वप्नवत् तन्न सत्यं
शुद्ध पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम्॥"
(आत्मपञ्चक-३य श्लोक)

अर्थात् 'तन्न सत्यं स्वप्नवत्'—विश्व सत्य नहीं है, यह असत् और स्वप्नकी तरह मिथ्या है। जगत्का अस्तित्व निद्राकालके स्वप्नकी तरह केवल प्रतीत होता है। वास्तवमें यह सत्य नहीं है।

बुद्धने कहीं कहीं पर विश्वको 'संस्कार' विशेष कहा है। आचार्य शंकरने उसे स्वप्नकी तरह केवल

प्रतिभात होता है-ऐसा कहा है। वास्तवमें स्वप्न और संस्कार एक ही धारणाके ज्ञापक हैं; क्योंकि स्वप्न और संस्कार दोनों ही कल्पनासे उत्पन्न होते हैं। जहाँ अकल्पित वस्तु भी स्वप्नमें दृष्ट होती है वहाँ भी संस्कार ही उसका मूल कारण है। दार्शनिक पण्डितों का यही मत है। शंकरने यद्यपि वेदान्त सूत्रके भाष्य में बौद्धोंके 'संस्कार-वादके' प्रति आक्रमण किया है, तथापि सूक्ष्म रूपसे विचार कर देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी स्वप्न-तुल्य जगत्-प्रतीति और संस्कार-वाद दोनों एक ही कल्पना हैं—केवल शब्द मात्र पृथक् पृथक् हैं।

आचार्य शंकरने जगत्का कारण अविद्याका परिचय देते समय 'सदसद्-विलक्षण अनिर्वचनीयत्व की बात जिस तरहसे कही है उससे बुद्धके त्रिकाल शून्यत्वके साथ कुछ भी भेद नहीं है। शुक्ति और रजतके उदाहरणके द्वारा वे कहते है कि शुक्तिमें रजत-ज्ञान अविद्या या अज्ञानके द्वारा उत्पन्न होता है। अतः यह रजत-ज्ञान प्रतिभासिक मात्र है। प्रातिभासिक वस्तु तावत्काल (जब तक अविद्याकी स्थिति रहती है) स्थायी होती है, बौद्ध मतमें यह केवल क्षणिक है। अर्थात् शुक्तिमें रजतका जो तात्कालिक ज्ञान होता है; वह केवल अज्ञान है। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें उसका अस्तित्व नहीं रहनेसे उक्त अज्ञान या अविद्या सत् नहीं, बल्कि केवल मिथ्या है। माननीय राजेन्द्रनाथ घोष महोदयने आचार्य शंकरका मत व्यक्त करते हुए आश्चर्यजनक वाक्योंका आवाहन किया है—

"जिसका अस्तित्व नहीं, वह प्रतिभात होता है, जैसे जगत्। और जिसका अस्तित्व है वह प्रतिभात नहीं होता, जैसे ब्रह्म।" उक्त वाक्य बौद्धमतकी प्रतिध्वनिमात्र है। बौद्ध ज्ञानश्री कहते हैं,—"यत् सत् तत् क्षणिकम्" अर्थात् जो सत् या सत्य रूपसे प्रतीयमान होता है, वही क्षणिक या तात्कालिक है। अतः मिथ्या है। आचार्य शंकरने अपने 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थके ४४ श्लोकमें बुद्धके क्षणिकवादकी प्रतिध्वनि करते हुए कहा है—

'रज्जुज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद् रज्जुर्हि सर्पिणी।'

अर्थात् रज्जुमें सर्पभ्रमके द्वारा जो अनुभूति होती है, वह भ्रान्तिमय होनेपर भी क्षणिक है। अतः जगत्-रूप जो भ्रांति होती है, वह भी क्षणिक है। जगत्के त्रैकालिक सत्य-शून्यत्वकी तात्कालिकता स्वीकार करनेसे बुद्धके जगद्व्यापारमें आदि और अन्तमें असत् विश्वके त्रिकाल शून्यताका क्षणिकत्वके साथ क्या फरक रहा? सुधी पाठकवर्ग विचार कर देखेंगे।

ब्रह्म और शून्य

जगत्के सम्बन्धमें बुद्ध और आचार्य शंकरका एक ही सिद्धान्त है, मैंने पाठकोंसे यह निवेदन किया है। जगत् यदि अस्तित्व हीन, मिथ्या अथवा क्षणिक और प्रातिभासिक हो तो सत्य और नित्य वस्तु क्या है?-यही यहाँ विचार करनेका विषय है। अद्वय-वादी बुद्धका शून्यही उनका सत् और नित्य-अर्थात् शून्यज्ञान ही चरम ज्ञान है। दूसरी तरफ ब्रह्मवादी शंकरका ब्रह्म ही सत् और नित्य, अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही चरम ज्ञान है। पहले कहा गया है कि शंकरके मतसे 'जिसकी प्रतीति नहीं वही सत् है' और बुद्धने भी प्रतीति हीन वस्तुको शून्य या सत् कहा है। शंकरने उसे 'ब्रह्म' शब्दके द्वारा समझाने जाकर शून्यके अतिरिक्त अधिक क्या बतलाया है?—पाठकवर्ग विचार करेंगे। हमारे विचारसे शून्यकी धारणा सम्पूर्ण रूपसे सुरक्षित रख कर उन्होंने, ब्रह्म, शब्दके द्वारा 'शून्य' शब्दको केवल भाषान्तरित किया है। शून्यके सम्बन्धमें बौद्ध लोगोंका जो कुछ कहना है, शंकरने भी ब्रह्मके विषयमें उसका प्रतिध्वनि मात्र किया है। अतः शून्य और ब्रह्ममें किसी प्रकारका पार्थक्य नहीं दीखता। हम दो-एक प्रमाण उद्धृत कर उक्त सिद्धान्तकी पुष्टि सम्पदान करते हैं। (क्रमशः)

शरणागति

दैन्य—दुःखात्मक (वाचिक)

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुर]

आकर इस संसार में भूला तुमको नाथ ।
नानाविधि पाई व्यथा शोक-दुःख के साथ ॥
आया हूँ तव श्रीचरण-सेवा में भगवान ।
अपने दुःखों की कथा कहता हूँ धर ध्यान ॥
मातृगर्भ में जब रहा बँधकर बन्धन पाश ।
तव दर्शन तुमने दिया किया मोह का नाश ॥
फिर वञ्चित उससे किया दीन दास को हाय ।
मैंने सोचा, जन्म ले भजन करूँगा जाय ॥
जन्म हुआ, तब मैं पड़ा माया के भ्रमजाल ।
ज्ञान तुम्हारा लेश भी रहा नहीं उस काल ॥
स्वजनों ने सादर किया लालन-पालन नाथ ।
मैंने समय बिता दिया हँसी-खुशी के साथ ॥
मातपिता के स्नेह में भूल गया तव भक्ति ।
भला लगा संसार यह बढ़ी सतत अनुरक्ति ॥
क्रम से बढ़कर बाल मैं बालकगण के सङ्ग ।
लगा खेलने खेल बहु मन में बढ़ी उमङ्ग ॥
बीते कुछ दिन और, तब ज्ञान हुआ उत्पन्न ।
पढ़ने-लिखने में लगा, हुआ बहुत व्युत्पन्न ॥
विद्या का गौरव लिये घूमा देश-विदेश ।
किया उपार्जन द्रव्य का हो एकाग्र विशेष ॥
स्वजनों का पालन किया, भूला तुमको नाथ ।
अब पछताता हूँ प्रभो ! बड़े दुःख के साथ ॥
वृद्ध हुआ व्याकुल महा रोता भक्तिविनोद ।
क्या करना था, क्या किया, महामूढ़ता मोद ॥
भजन किया प्रभु का नहीं, आयु गई सब व्यर्थ ।
अब क्या गति होगी अहो ! हूँ सब विधि असमर्थ ॥

कृपा

'कृपा' शब्दसे साधारणतः सभी लोग परिचित हैं एवं बहुधा अपनी बोल-चालकी भाषा या लेखोंमें इसका प्रयोग भी करते हैं। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति इसका कुछ ऐसे अर्थमें व्यवहार करता है जिससे इस शब्दका ठीक-ठीक मतलब मालूम करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। साधारणतः कृपा शब्द अनुग्रहका प्रकाशक है। लेकिन किसकी कृपा? किस लिये कृपा? और किसपर कृपा? इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करनेसे इस शब्दमें व्यवहारके तारतम्यसे कुछ विभिन्नता प्रतीत होती है। किसी आदमीको उसकी आवश्यकतानुसार कुछ प्राप्त ही कृपाका द्योतक बन जाता है। किसीको एक रुपयाकी आवश्यकता है, दूसरे किसीने उसे एक रुपया दे दिया, तो पहला व्यक्ति कृतज्ञ होकर कहने लगता है,—"आपने बहुत कृपा की।" कोई अकेला कहीं जारहा था, किसीने उसका साथ हो लिया, तो वह आदमी इसे कृपा समझता है। एक आदमी दुःखमें बैठा था। कोई दूसरा व्यक्ति उसके पास आकर उसके साथ बात-चीत करने लगा। इससे दुःखी आदमीको कुछ सांत्वना मिली और कहता है,—"आपकी बड़ी कृपा हुई।" इस तरह हम देखते हैं कि कुछ न कुछ उपकार करना ही एक प्रकारसे कृपा है। लेकिन उपकार कई तरहका होता है, सभी उपकार बराबर नहीं होते। अतः सब उपकारोंको वास्तवमें एक दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता। 'उपकार' शब्दपर अगर हम गौरसे विचार करें तो हम समझ पाते हैं कि उससे कुछ प्राप्ति होती है। अर्थात् जिसका कोई उपकार होगया उसे मालूम पड़ता है कि उसको कुछ मिल गया, वह वस्तु चाहे आकारयुक्त हो या आकारहीन अथवा वह वस्तु भौतिक (Material), आध्यात्मिक (Spiritual) या अप्राकृत (Supernatural) हो। जैसा कि पहले कहा गया है, एक आदमीको समयपर एक रुपया मिलना एक संसारिक आकारयुक्त वस्तुसे उपकार है। लेकिन किसी आदमीकी मधुर वाणीसे एक दुःखी व्यक्तिका दुःख दूर हो जानेसे किसी निराकार वस्तु द्वारा या भावनाद्वारा उपकार कहा जासकता है। लेकिन ये दोनों प्रकारके उपकार भौतिक या पार्थिव हैं। यह उपकार एक बार हो जानेपर भी फिर किसी न किसी समय उसकी आवश्यकता हो सकती है। ऐसा सदासे ही होता आया है और होता रहेगा।

ऐसी कृपा संसारका हरेक व्यक्ति हर समय हर एकको किसी न किसी प्रकारसे कर सकता है, यह तो पारस्परिक व्यवहार है। किन्तु ऐसी कृपा मिलना भी सबके भाग्यमें नहीं होता, उसके लिये तो कुछ संस्कार की आवश्यकता होती है।

कृपाका फल उपकार है और उपकारका अर्थ कुछ प्राप्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चाहे वह प्राप्ति कैसी भी क्यों न हो। प्राप्तिके ऊपर ही उपकारका गुरुत्व निर्भर करता है, अर्थात प्राप्त-वस्तु जितनी ही महान् होगी, उपकार उतना ही उच्चकोटिका होगा। बड़ी कृपा वह है जो बड़ा उपकार करती है और जो बड़ी कृपा करता है, उसका महत्व अन्य कृपाकारियोंसे अधिक है। अतः जो सबसे बड़ी कृपा करता है, वह सर्वश्रेष्ठ कृपालु है। इस प्रकार देखा जाता है कि कृपाके साथ-साथ कृपालुका स्तर भी क्रमशः ऊँचा उठता जाता है।

यहाँपर सर्वश्रेष्ठ कृपा और सर्वश्रेष्ठ कृपालुके विषयमें कहना लक्ष्य है। अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कृपा क्या है? सर्वश्रेष्ठ कृपालुकी कृपा कैसी होती है? और उस कृपाका फल क्या होता है?—हमें विचार करना है। पहले कहा गया है कि प्राप्त वस्तु देखकर हम उपकारकी महानता समझ सकते हैं। बड़ा उपकार वह है जो बड़ी वस्तु देता है। सबसे बड़ी वस्तु क्या है?—सबसे बड़ी वस्तु वह है जिसके मिलनेपर कोई वस्तु मिलनी बाकी नहीं रह जाती है अर्थात जिस

वस्तुके मिलनेपर सबकुछ मिल जाता है तथा दूसरी किसी वस्तुकी चाहना नहीं रह जाती है, जीवन भरपूर हो जाता है। आत्मा कृतकृतार्थ हो जाती है, पूर्ण अनाविल, अविरल शान्ति-स्रोतके नीरव प्रवाहसे न जाने कहाँ का अपूर्व मधुरातिमधुर अमृतास्वाद मिलता है—यही वस्तु सब तरहकी प्राप्य वस्तुओंमें श्रेष्ठ है। वह वस्तु क्या है ?—इसका विचार करना इस लेखका उद्देश्य नहीं है। यहाँ तो सिर्फ कृपाका ही स्वरूप देखना है, वह भी सर्वप्रधान कृपाका ही।

जब हम यह कह सकते हैं कि सर्वश्रेष्ठ वस्तुको प्रदान करने वाली ही सर्वश्रेष्ठ कृपा है, पलट करके हम यह भी कह सकते हैं कि सर्वश्रेष्ठ कृपाका दान सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। सर्वश्रेष्ठ कृपा एक तुच्छ वस्तु नहीं देती। सर्वश्रेष्ठ कृपालुकी कृपा ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु दे सकती है। इस तरह हम देखें तो यह मालूम होना कठिन नहीं है कि एकमात्र श्रीभगवान् ही ऐसी कृपा करने वाले हैं और उन्हींकी कृपा ऐसी है जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु दान कर सकती है। ऐसे तो संसारकी सभी वस्तुओंकी प्राप्ति मूलतः भगवत् कृपाके ही अधीन है। लेकिन उसका सच्चा-स्वरूप क्या है ?—इसमें कुछ रहस्य है। भगवत् प्राप्ति ही मानव जीवनका पुरुषार्थ है, उसके सिवा सब विषय ही बन्धनके हेतु हैं। उनसे कोई कल्याण नहीं हो सकता है। इस लिये कोई भी वस्तु मिलने पर उसको भगवत्-कृपा मानना उनकी कृपाकी अवज्ञा करनेके सिवा और कुछ नहीं है। जिस वस्तुके मिलनेसे चाहना मिटती नहीं अपितु बढ़ जाती है और तृष्णाकी विषम ज्वालासे हृदय जल जाता है, वह क्या भगवत्-कृपाका फल हो सकता है ? कुछ गहराईसे विचार करनेपर इस बात की सत्यताका अनुभव हो जाता है। भगवान् आनन्दमय हैं और सबको आनन्द देनेवाले हैं। सांसारिक सुख आनन्दजनक नहीं, बल्कि क्षणिक तृप्तिके बाद अतृप्त तृष्णाको क्रमशः अनन्त प्रकारसे अनन्त गुण चाहनाद्वारा बढ़ाने वाला है। जहाँ वासनाएँ मिटती नहीं, प्यास बुझती नहीं, दिल तड़फड़ाता है, भला ! वहाँ आनन्द कहाँ है ? भगवत् कृपा का फल विषय-भोग नहीं, परन्तु विषय-त्याग है। शारीरिक-सुख, सन्तान और धन-जन आदिकी प्राप्ति भगवत्-कृपा नहीं है। यद्यपि संसारकी सभी वस्तुओं की प्राप्ति साधारणतः भगवत्-कृपाके ही अन्तर्भुक्त है, तथापि भगवत्-कृपाका असल तत्त्व कुछ और ही है। भगवान्ने स्वयं ही बहुतसे जगहों पर ऐसा कहा हैं कि जिसके ऊपर वह कृपा करता हैं, उसके सभी मायिक धन-संपद(विषय)नष्ट हो जाते हैं। सांसारिक धन-जन प्रतिष्ठा आदि मनुष्योंके लिए क्षणिक और आपात सुखके हेतु हैं। प्राय; देखा जाता है कि इस संसारमें कभी एक समय जिसके पास ऐसी संपदाकी कोई सीमा न थी जिसने सांसारिक सभी प्रकारके विषय-सुखोंका पूर्णतया भोग कर लिया है, वह भी अन्तमें उससे ऊबकर उन्हें दुखदायी समझकर स्वेच्छापूर्वक साधु-सङ्गसे भगवत्-कृपा प्रार्थना करता है। यदि भगवत् कृपाका फल इस जगतका भोग ही होता तो उक्त व्यक्ति फिर भगवत् कृपाकी लालसा क्यों करता है ? और भी देखा जाता है कि सर्व प्रकार जागतिक (Worldly) संपदासे पूर्ण होकर भी कोई मनुष्य उसका विनाश होनेके लिए भगवत्-कृपा प्रार्थना करता है। यह तो एक सर्वसिद्ध बात है कि हरेक सुकृतिवान् पुरुष किसी न किसी समय साधुके पास जाकर उनके उपदेशसे संसारसे वैराग्य लाभकर भगवत्-कृपाकी खोज करता है। जब ऐसी ही बात है तो विषयोंका (जागतिक वस्तुओंका) मिलना किस तरह से भगवत्-कृपा कहा जासकता है ? सृष्टिका उद्देश्य ही सृष्टिकर्त्ताकी खोज करना है और उस उद्देश्यकी पूर्तिमें ही मनुष्य जीवनकी सार्थकता है। इसलिए थोड़ेसे विषय-सुखको पाकर उसे भगवत् कृपा नहीं समझना चाहिए अथवा उसमें मग्न रहकर निश्चिन्त न रहे। बल्कि सर्वदा भगवत्-कृपाकी आशा और उसके लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे श्रीभगवान्का नाम, रूप, गुण और लीलादिमें मन लगा कर वह आनन्द मिल सके जिससे श्रेष्ठ कोई भी अन्य प्राप्तिका विषय नहीं। इसलिए भगवद्-भक्त सांसारिक सुखकी कामना नहीं करता। संयोगवश ऐसा सुख होनेपर भी उछलता नहीं बल्कि उस सांसारिक सुखके कारण अपने इष्टसे मन कुछ हट

जाय इस डरसे दृढ़ताके साथ श्रीभगवत् चरणारविन्दमें यथाशक्ति अपनी इन्द्रिय वर्गको नियुक्त करता है। सांसारिक सुखोंके लिये प्रार्थनाकी तो बात ही क्या, कोई कोई भक्त तो भगवानसे आजीवन दुःख भोग ही माँगता है। क्योंकि दुःखमें भगवत् स्मरण होनेकी अधिक सम्भावना रहती है। भक्त अपने इष्टसे तद्‌तिर वस्तुकी प्रार्थना नहीं करता। उसे तो स्वीय इष्टके सिवा किसी भी दूसरी चीजकी आवश्यकता ही नहीं होती। वह संसारकी सभी वस्तुओंको हटाकर उनके स्थानपर अपनी अभीष्ट वस्तुके विराजमान होनेके लिये सदा प्रयत्न करता है और तत्पर रहता है। भगवत्-सेवा बिना उसका जीवन शून्य है, अँधेरा है, मृत्यु है। जबतक वह भगवान्‌के सम्बन्धसे लगा रहता है तभीतक वह अपने ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह मानता है। यही है भगवत् कृपाका अनुभव और यही है भगवत् कृपाका स्वरूप। "क्षान्तिरव्यर्थकालत्वम्.....*" श्लोककी सफलता प्राप्ति ही भगवत् कृपाका फल है। उसीके अनुसार ही कृपाका परिमाण किया जासकता है अर्थात् श्रेष्ठ कृपा उसीको कह सकते हैं जिससे उक्त श्लोककी सभी बातें कृपापात्रमें आ जातीं हैं। इसके सिवा विषयोंके मिलनेसे भगवत् कृपा समझना विडम्बना मात्र है। अतः बहुत निपुणताके साथ इसका विचार नहीं करनेसे विपर्य्यय अवश्यम्भावी है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

श्री राधे बाबा एम. ए.

असत्संगके दोष

असत्संगका परित्याग करना चाहिये। इसका संग करनेसे श्रेयः- साधन किसी प्रकार नहीं हो सकता। जो असत्संगमें रहते हैं, वे सहस्रों साधन करके भी फल लाभ नहीं कर सकते। आजकल बहुतसे लोग साधु-वेश ग्रहणकर साधनके अंगोंका पालनकरते हैं; किन्तु बहुत दिन बाद भी विचार कर देखनेसे पता चलता है कि वास्तवमें उनकी कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। असत्संगका परित्याग किये बिना वैष्णव आचार नहीं होता। असत् दो प्रकारका होता है— स्त्रीसंगी और कृष्णभक्तिहीन। इन दोनों प्रकारके असत् संगोंसे बचना चाहिये। प्रत्येक हरिवासरके (एकादशीके) दिन एकबार विचार करना कर्तव्य है कि पिछले दिनोंमें हम भजन मार्गमें कितना उन्नत अथवा अवनत हुए हैं। यदि देखा जाय कि तनिक भी उन्नति नहीं हुई वरन् अवनति हुई है तो समझना चाहिये कि असत्संग ही इसका मूल कारण है। और उसे परित्याग करनेका यत्न करना चाहिये।

—सज्जन-तोषणी

* क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कंठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जाते भावाङ्कुरे जने॥
(भक्ति रसामृत सिन्धु)

"अर्थात्-जिन व्यक्तियोंके चित्तमें भावका अंकुरमात्र भी उदय हुआ है उनके ये अनुभाव-समूह प्रकाश पाने लगते हैं, यथा—क्षान्ति (क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर भी क्षुब्ध न होना), अव्यर्थकालत्व (हरि-सेवाके सिवा दूसरे कर्मोंके लिये एक क्षण भी समय नष्ट न करना), विरक्ति (कृष्णसे अतिरिक्त विषयोंसे अनासक्ति), मानशून्यता (अपनी महानता होनेपर भी मानकी कामना नहीं करना), आशाबन्ध (भगवत् प्राप्तिके विषयमें दृढ़ आशा युक्त), समुत्कंठा (अभीष्ट सिद्धके लिये भारी लोभ), भगवत् नामगानमें सर्वदा रुचि, भगवत् गुण वर्णनमें आसक्ति तथा भगवत् लीला क्षेत्रोंमें प्रीति।

मनुष्यका कर्त्तव्य

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

(भा: ११।२०।१७)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीसे कहा है:—

"मानव देह समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है। यह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गयी है। इस संसार सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। श्रीगुरुदेव इसके पतवारको सञ्चालन करनेवाले कर्णधार हैं तथा मैं अनुकूल वायुके रूपमें उसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं होजाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कररहा है।

श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकके अनुसार हम जान पाते हैं कि मनुष्य शरीरसे ही जीव परम गति प्राप्त कर सकता है और यह जन्म थोड़े पुण्यसे नहीं मिलता अधिकन्तु यह जीवन दुर्लभ है। दूसरे प्राणियोंके साथ मनुष्यका आहार, निद्रा, भय और मैथुन—इन चार विषयोंमें समानता है। केवल धर्मज्ञान ही उसे दूसरे प्राणियोंसे पृथक करता है। अतः शास्त्रकारोंने धर्मज्ञान हीन पुरुषोंको पशु बतलाया है।

अब जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म क्या है? धर्मका साधारण अर्थ है धारण करना-"ध्रियते धर्म इत्याहु स एव परमो मतः।" अच्छा क्या है? बुरा क्या है? पाप किसे कहते हैं? पुण्य किसे कहते हैं? ये सब बातें धर्म ही हमें सिखलाता है। धर्म पशु-पक्षी सभीके होते हैं, परन्तु धर्मज्ञान केवल मनुष्यमें होता है। सभी कालोंमें, सभी देशोंमें, सभी जातियोंके लिये मनुष्यमात्रका धर्म एक होता है। वह हिन्दु मुसलमान और ईसाइयोंके लिये पृथक्-पृथक् नहीं होता। फिर संसारमें इतने धर्म सम्प्रदाय क्यों देखे जाते हैं? इनके मतोंमें परस्पर भेद क्या है? उत्तर यह है कि जीवका त्रिविध शरीर होता है--(१)स्थूल शरीर (२) सूक्ष्मशरीर (३) आत्मशरीर। इन त्रिविध शरीरोंके अनुसार उसके धर्म त्रिविध होते हैं—(१) स्थूल शरीरभूत धर्म (२) सूक्ष्मशरीरभूत धर्म (३) आत्मशरीरभूत धर्म, स्वरूप-धर्म या सनातन धर्म। जीव भगवान् श्रीकृष्णका सनातन अंश है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं कहा है—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतः जीव इनका अंशभूत होनेके कारण सच्चिदानन्दमय है। भगवान् विभु चिदानन्द हैं, पर जीव अणु चिदानन्द है भगवान् विभु या बृहत्तम वस्तु और जीव अणु या क्षुद्र होनेके कारण इनमें परस्पर स्वामी-सेवक भाव नित्यसिद्ध होता है। आचार्य श्रीशङ्कर भगवद्भक्त साक्षात् शङ्करजीके अवतार थे। भगवान्का आदेश पालन करना ही उनका धर्म है। इसलिये उन्होंने भगवान्की आज्ञासे प्रच्छन्न बौद्धवादका प्रचार किया। किन्तु प्रच्छन्नबौद्धवाद उनका अन्तर्निहित विचार नहीं है। वास्तवतः प्रच्छन्न बौद्धवाद या मायावाद प्रचार करनेपर भी उन्होंने अपना आन्तरिक विचार इस प्रकार व्यक्त किया है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

(षट्पदी-स्तोत्रम्)

"अर्थात् हे नाथ! मुझमें और तुममें वस्तुगत भेद न होनेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि (समुद्र और तरङ्गमें भेद न होनेपर भी) समुद्रका अंश तरङ्ग होता है, तरङ्गका अंश समुद्र कदापि नहीं होता।"

उपर्युक्त श्लोकमें "मैं तुम्हारा हूँ, किन्तु तुम मेरे नहीं हो," इसका तात्पर्य यह है कि मैं भगवानके

अधीन अर्थात् दास हूँ, किन्तु भगवान मेरे अधीन नहीं हैं,क्योंकि वे स्वामी हैं। किन्तु शङ्करके अनुयायी लोग श्रीशङ्करके मायावादसे—जिसका आचार्य शङ्कर ने भगवत् आदेशसे प्रचार किया था—मोहित होकर इस उक्त श्लोकके तात्पर्यको समझनेमें असमर्थ हैं।

उपर्युक्त शास्त्र प्रमाणसे भी यही सिद्ध हुआ कि कृष्णदास्य ही जीवका स्वरूप धर्म है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने तो श्रीचैतन्य चरितामृतमें जोरदार और स्पष्ट शब्दोंमें लिख डाला है—

"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।"

और श्रीमद्भागवतमें इसी स्वरूप धर्मके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥
(भा. १।२।६)

"अर्थात् मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें श्रवण आदि लक्षणोंसे युक्त भक्ति हो—जिस भक्तिमें किसी प्रकारकी कामना न हो तथा जो ऐकान्तिकी, स्वाभाविक और निरपेक्ष हो। ऐसी भक्तिसे अनर्थ दूर होकर आत्मा प्रसन्नता लाभ करती है।"

इस स्वरूपधर्मके अतिरिक्त जीवके स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंका भी धर्म होता है। साधारण पुण्य कर्म, नर-सेवा (जनता रूपी जनार्दनकी सेवा ?), विभूति सिद्धि तथा मनुष्योचित गुणोंकी वृद्धि—आदि धर्म, जो अनेक सम्प्रदायोंमें देखे जाते हैं, वे सभी स्थूल या सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं, क्योंकि इनके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है। दृष्टान्तसे इस विषयको इस प्रकार समझाया जा सकता है—सभी पदार्थोंका अपना अपना एक स्वभाव होता है, वही स्वभाव उस पदार्थका धर्म है। जैसे जलका स्वभाव है— तरलता और निम्नगामी। अतएव यही उसका स्वरूप धर्म है। किन्तु जब जल अधिक ठण्ड के कारण जमकर बर्फ हो जाता है तब उसका स्वभाव या धर्म भी बदल जाता है। क्योंकि उस समय कठिन हो जाता है तथा निम्नगामी नहीं रह जाता है, बल्कि स्थिर हो जाता है। यह जलका स्वरूप धर्म नहीं है, नैमित्तिक धर्म है। क्योंकि ठण्ड रूप निमित्तसे यह बदला हुआ धर्म है। उसी प्रकार जीव-स्वरूपतः कृष्णका दास होनेके कारण 'कृष्णदास्य' ही उसका स्वरूप धर्म है। मायासे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में आत्मबुद्धि हो जानेके कारण जीव अपने स्वरूप धर्मसे विच्युत हो जाता है, तब स्थूल और सूक्ष्म शरीरके जो नैमित्तिक धर्म हैं, उन्हींको अपना धर्म समझ बैठता है। इस तरह वह मायाके दलदलमें फँसकर कभी सुख, कभी दुःख, कभी स्वर्ग और कभी नरकमें भटकता फिरता है। ऐसे समयमें सौभाग्य-वश (अज्ञात सुकृतिसे) यदि साधु सङ्ग मिल जाता है तो साधु सङ्गके प्रभावसे उसे अपना स्वरूप ज्ञान हो जाता है और उसे कृष्णभक्तिपर—जो जीवमात्रका स्वरूप धर्म है—श्रद्धा हो जाती है। उस भक्तिके अनुष्ठानसे वह क्रमशः भगवत्-प्रेम लाभकर परमा-शान्ति प्राप्त करता है। इस स्वरूप-धर्मको दूसरे शब्दोंमें जैवधर्म, वैष्णव धर्म, या सनातन धर्म कहते हैं।

कृष्ण-भक्ति कोई मतवाद या साम्प्रदायिक भावना नहीं है। जो सबको अपनी ओर आकर्षण करता है तथा आनन्द देता है, वही 'कृष्ण' है। कौन सबको अपनी ओर खींचते हुए आनन्द दे सकता है ?—जो सत् है तथा स्वयं आनन्दरूप है वही ऐसाकर सकता है—वह परब्रह्म है, तथाहि—

कृषिर्भू वाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः
तयोरैक्यं परं ब्रह्म इत्यभिधीयते॥
(म. भा. उ. प. ७१अ. ४र्थ श्लोक)

"अर्थात्—'कृष्' धातु 'भू' अर्थात सत्तावाचक है। जिसका कभी नाश नहीं होता, जो तीनों कालोंमें रहता है, उसे सत वस्तु कहते हैं। 'सत्ता' शब्दसे उसे ही समझना चाहिये। वही पर-ब्रह्म है। श्रुति भी कहती है—"सदेव सौम्य आसीत"। 'ण'-शब्द निवृत्ति या आनन्दवाचक है। ब्रह्म ही आनन्दरूप है। श्रुतिका कहना है—"आनन्द ब्राह्मणो विद्वान् नबिभेति कदाचन।"

इस प्रकार 'कृष्' धातुमें 'ण' प्रत्यय करनेसे दोनों मिलकर 'कृष्ण' ही पर-ब्रह्म सिद्ध हुए। अतः जीवमात्रको कृष्ण भक्तिका ही अनुष्ठान करना चाहिये। हरि ॐ तत सत्

श्रीकेशवानन्द विद्याविनोद

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका संकीर्त्तन-आन्दोलन

[वर्ष १, संख्या २, पृष्ठ ४७ के आगे]

कलियुगमें अधिक धनकी तो बात ही क्या, कुछ कौड़ियोंके लिये ही परस्पर वैर-विरोध होने लगता है। मनुष्य बहुत दिनोंके सुहृद्भावको तिलाञ्जलि देकर कौड़ी-कौड़ीके लिये अपने सगे-सम्बन्धियों तक की हत्या कर बैठते और अपने सर्व प्रिय प्राणोंका भी विसर्जन करते हैं। पुत्र शिश्नोदर परायण होकर अपने बूढ़े माता-पिताकी रक्षा--पालन पोषण नहीं करता पिता अपनी सन्तानकी परवा नहीं करता, उन्हें अलग कर देता है। पति सत्कुलमें उत्पन्न हुई अपनी विदुषी भार्याको परित्याग कर देता है। वे भगवद्भक्ति-हीन पाषण्डियोंके मतसे मोहित होकर जगद्गुरु त्रिलोकी-नाथ भगवान्की पूजा नहीं करते। मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्के किसी एक नामका उच्चारण करले तो उसके सारे कर्म बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त होती है। पर हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवानकी आराधनासे भी विमुख रहते हैं। परन्तु जब पुरुषोत्तम भगवान् मानवोंके हृदयमें आ विराजते हैं, तब उनके धर्म कृत्य-समूहमें द्रव्य,देशादि वैगुण्यके कारण कलिके द्वारा उत्पन्न सभी दोष क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। भगवान्के नाम, रूप,गुण, लीला और धामके श्रवण, संकीर्तन, ध्यान, पूजन और सम्मानसे वे मानवोंके हृदयमें आविर्भूत होकर उनके हृदयस्थ कोटि-कोटि जन्मोंके पापोंके ढेर-के-ढेर भी क्षणभरमें भस्म करदेते हैं। जैसे सोनेके साथ संयुक्त होकर अग्नि उसके ताम्रादि धातु सम्बन्धी मलिनताको नष्ट करदेती है, वैसे ही साधकोंके हृदयमें स्थित होकर भगवान् विष्णु उनके अशुभ- संस्कारोंको सदाके लिये दूर करदेते हैं।

कलियुगकी परमायु ४३२००० वर्ष मानी जाती है,जिसमें कुल ५००० वर्ष ही बीते हैं, शेष ४२७००० वर्ष अभी और सामने पड़े हैं। इन पाँच हजार वर्षों के बीतते-न-बीतते ही शास्त्रोंकी भविष्य वाणियाँ—जो कलियुगके सम्बन्धमें कीगयीं थीं—आज सर्वत्र प्रत्यक्षरूपसे परिलक्षित हो रहीं हैं। इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि कलियुगकी प्रगतिके साथ-साथ मनुष्य समाजकी कितनी बुरी परिस्थिति होगी। फिर भी शास्त्रकारोंने कलियुगकी महिमाका प्रचुर गान किया है। श्रीमद्भागवतके सर्वश्रेष्ठ मनीषि श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षितसे कहा था,—"हे राजन्! यों तो कलियुग दोषोंका खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यह है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर वैशिष्ट्य आदिका संकीर्त्तन करने मात्रसे जीव सब पापोंसे मुक्त हो जाता है, उसे भगवत् प्राप्ति हो जाती है। सत्ययुगमें भगवान्का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंसे उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका अर्चन करनेसे जो फल प्राप्त होता है वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवत् धर्मके प्रचारक और श्रीहरिनाम संकीर्त्तन-यज्ञके आदि प्रवर्त्तक और शिक्षागुरु हैं। उन्होंने सर्वत्र यही शिक्षा दी कि कलियुगमें जीवोंके उद्धारके लिये केवल एक ही साधन है—वह साधन है 'हरिनाम संकीर्तन'। शास्त्रोंसे प्रमाण उद्धृत कर इसे शास्त्र-सिद्धान्त रूपमें स्थापन कर दिया।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीय पु० ३८। १२६)

श्रीधाम वृन्दावनका दर्शन कर श्रीपुरीधामको लौटते समय महाप्रभुजी काशीजीमें पधारे थे। काशीकी जनताने उनके संकीर्त्तन-आन्दोलनमें अधिक-से-अधिक संख्यामें सहयोग दिया। इसे देख कर श्री प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे बहुतसे मायावादी संन्यासियोंने उन्हें (श्रीचैतन्यमहाप्रभुको) केवल एक भावुक संन्यासी समझा। श्रीमन्महाप्रभुका प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ वेदान्त तत्त्वपर विचार हुआ। महाप्रभुजीने बृहन्नारदीय पुराणसे उपर्युक्त श्लोक उद्धृत कर दिखला दिया कि कलियुगमें पाप-पङ्कमें निमग्न अज्ञ जन-साधारण वेदान्त पाठके अधिकारी नहीं हैं। उनके लिये हरिनाम-संकीर्त्तन ही एकमात्र गति है। इसके सिवा उनके उद्धार होनेका कोई भी दूसरा पथ नहीं है।

सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंमें श्रौतपथका ही (गुरु- परम्परासे सुना हुआ पर-तत्व सम्बन्धी वाणियोंका) आदर था। किन्तु कलिकालकी प्रवृत्तियोंके साथ-साथ अश्रौतपथ— अर्थात् तर्क-पथ आदर होने लगा है। परम-सत्य वस्तुके अवतरण के (Deductive Process) विषयमें सन्देह होनेके कारण आज मानव अपनी जड़ इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान लाभ करनेके लिये आक्रांत प्रयत्न करता है। इसीलिये आधुनिक मनुष्य-समाजमें मनोविज्ञान अथवा अश्रौत या तर्क पथका अधिक गौरव है। पाश्चात्य दार्शनिक मनीषियोंने मनोविज्ञानकी विस्तृत आलोचना करके अप्राकृत तत्व-वस्तुकी विचित्र पहेलीको यथासाधन यथाशक्ति समझनेके लिये प्रयत्न किया है। किन्तु विफल रह जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिकोणसे मनोविज्ञान अपरा प्रकृति अथवा जड़ प्रकृति का ही एक अङ्ग है। अतः मनोविज्ञान अपने सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम् विचरोंद्वारा अधिक से-अधिक 'तत् सत्' वस्तुके निर्विशेष-ब्रह्म तकका अनुसन्धान देकर शान्त हो जाता है। वह अद्वय ज्ञान-तत्वका अर्थात् सर्व-शक्ति समन्वित पर-ब्रह्मका अनुसन्धान देनेमें असमर्थ होता है।

श्रीकृष्णनाम वैकुण्ठ वस्तु अथवा शब्द ब्रह्म हैं।

श्रीकृष्णनाम वैकुण्ठ वस्तु होनेके कारण वास्तव वस्तु स्वयं कृष्णके साथ सम्पूर्णरूपसे अभिन्न है। नाम और नामी अभिन्नहोनेके कारण वास्तव वस्तु नामी श्रीकृष्ण जैसे नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, चैतन्य रस-विग्रह और आप्राकृत चिन्तामणि हैं, वैकुण्ठ नाम भी वैसे ही नित्य, शुद्ध, पूर्ण, मुक्त, चैतन्य रस विग्रह और आप्रकृत चिन्तमणि हैं। ये दोनों अद्वय-ज्ञान-तत्त्व हैं। कृष्णनामके साथ प्राकृत नामका सादृश्य रहने पर भी कृष्णनाम स्वयं वैकुण्ठ वस्तु हैं अतः आप्राकृत नाम या नामी तत्त्व तर्क पथ अथवा प्राकृत मनोविज्ञानकी पहुँचके बाहर है।

केवल नाम भजनसे ही मायाबद्ध जीवकी स्थूल और सूक्ष्म उपाधियाँ दूर होती हैं। कलिकालमें तर्क पथका अधिक आदर है। इस तर्क-प्रधान कलि में ध्यान, धारणा, यज्ञ तथा अर्चन आदि धर्म-समूह सिद्धि देनेमें असमर्थ हैं। क्योंकि तर्क या सन्देहका रोड़ा उनकी सिद्धिमें बाधा देता है। अतः तर्कसे अतीत भगवान्का नाम ही तर्क पन्थियोंको—विषय चिन्तामें अभिनिविष्ट तथा मनोधर्मका अनुशीलन करने वाले जीवको, मायाके हाथसे परित्राण कर सकते हैं। यह सभी शास्त्रोंका सार सिद्धान्त है।

प्राकृत विज्ञानके अनुभवगम्य जड़ वस्तुओं के नाम (Nomeclature), रूप, गुण, भाव और कार्यक्रम सभी तर्क-पथके (Inductive Process) अन्तर्गत है। किन्तु वैकुण्ठ-वस्तु भगवान् और भगवान्नाम वैसे नहीं। भगवान्के अप्राकृत नाम, रूप, गुण, लीला और उनके परिकर सभी तर्क पथसे परे अद्वय-ज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं। मायावादी प्राकृत मनोविज्ञानके आधारपर—परम सत्य वस्तुके नाम, रूप, और गुणमें द्वैत-ज्ञान अर्थात् भेद स्थापनकर उसमें दोष आरोप करते हैं। अतः उनका पतन हो जाता है। मायावादी मनोधर्मका अनुशीलन करने वाले व्यक्तियोंको "सदेव सौम्येदमग्र आसीत" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ये दोनों श्रुति वाक्य उनके प्राकृतविचार से मुक्त करते हैं।

सत्ययुगका ध्यान, त्रेताकी यज्ञ-विधि तथा द्वापरका भगवद्अर्चन—ये कलिकालके लिये उपयोगी नहीं हैं। वरन् तरह-तरहके विघ्न-बाधाओंके कारण ये साधन-समूह एक प्रकारसे निष्फल हो गये हैं। अतः ऐसे समयमें केवल हरिसंकीर्त्तन ही अनन्य साधनका मार्ग है।

नाम भजनमें अनाधिकारी व्यक्ति नाम तथा नामीमें द्वैत-भेद ज्ञान करते हुए मायावादी वैदान्तिक होनेका प्रयास करते हैं। ऐसे दुर्भागा व्यक्ति अप्राकृत श्रीगुरुदेवकी भाषामें मूर्ख कहे जाते हैं। अधिरोहवादसे (प्राकृत-मनोविज्ञानसे) परिचालित होकर वेदान्तके अनुशीलनका फल होता है—भगवत् सेवामें उत्साहहीनता, जड़ता अथवा मूर्खता। किन्तु नाम भजनमें अधिकारी व्यक्ति वेदान्त अनुशीलनके परे अवस्थित रहता है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका विचार अतीव सुन्दर है—

"अहोबतश्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपूस्तपस्ते जुहुवुः सस्नूरार्य्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥"

(भागवत ३।३३।७)

अर्थात् हे भगवन्! जिनके मुखमें आपका नाम वर्त्तमान है, वे चण्डालकुल में अवतीर्ण होनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हैं। जो आपका नाम कीर्त्तन करते हैं, उन्होंने सब तरहके तप, हवन, तीर्थ स्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।

और भी देखिये—

ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदःसामवेदोऽप्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षर द्वयम्॥

अर्थात् जो 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करते हैं उन्होंने ऋक्, साम, यजु और अथर्व--चारों वेदोंका अध्ययन कर लिया।

श्रीकृष्णचैतन्य देव संकीर्त्तनका प्रचार कर युग-धर्म प्रवर्त्तन करनेके लिए अवतीर्ण हुए थे। वे स्वयंरूप कृष्ण हैं। वे १८ फरवरी १४४६ में बंगालमें नवद्वीप धाममें फाल्गुन-पूर्णिमाके चन्द्र-ग्रहणके अवसरपर श्रीहरिसंकीर्त्तन मुखरित संध्यामें अवतीर्ण हुए थे। इनकी माताका नाम श्रीशचीदेवी और पिताका नाम श्रीजगन्नाथ मिश्र था। विभिन्न शास्त्रोंमें उनके अवतीर्ण होनेका उल्लेख मिलता है। महाभारतमें भगवान श्रीकृष्णके भक्त भावसे अवतीर्ण होनेका प्रमाण मिलता है—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
सन्नासकृच्छमः शान्तो निष्ठा-शान्ति परायणः॥

(महाभारत दानपर्व)

अर्थात् - सुवर्णके समान शरीरका सौन्दर्य, तपाये सोनेकी तरह अंगकी छटा, सर्वाङ्ग-सुन्दर गठन, और चन्दनकी मालासे सुशोभित--इन चार लक्षणोंसे युक्त श्रीमन्महाप्रभु गृहस्थ लीला करते हैं। फिर भगवद्-रहस्यकी आलोचनारूप समगुण विशिष्टता, हरिकीर्त्तनरूप यज्ञमें दृढ़ निश्चयता तथा केवलाद्वैत-वादीके अभक्तभावको निवृत्त करनेवाला शान्तिमय महाभाव—ये उनके संन्यास लीलाका परिचय देते हैं। इनकी भगवत्ता और अवतीर्ण होनेका प्रमाण विभिन्न शास्त्रोंसे उद्धृत कर पीछे दूसरी जगह दिखलाया जायगा।

वेदानुग शास्त्रोंमें भगवान्के अवतार तथा उन अवतारोंके विशेष कार्य-क्रमके सम्बन्धमें उल्लेख है। श्रीकृष्णचैतन्यदेवने शास्त्र सिद्धान्तके अनुरूप २४ वें वर्ष तक गृहस्थ लीला करनेके बाद केशव भारतीसे संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके बाद वे तीन दिनों तक भावमें विभोर होकर राढ़देशमें-जो मुर्शिदाबाद (बंगाल)जिलेमें गंगा नदीके पूर्व तटपर स्थित है—भ्रमण किया। वहाँ उन्होंने अपने संन्यास ग्रहण करनेका निगूढ़ रहस्यका उद्घाटन किया था। उन्होंने श्रीमद्भागवतमें वर्णित अवन्ती नगरीके एक ब्राह्मणके संन्यास ग्रहणका उद्देश्य वर्णन किया—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा--
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥

(क्रमशः) (भा० ११।२३।५७)

—श्री अभय-चरण भक्तिवेदान्त

श्रीहरिनाम

करुणावरुणालय भगवानने जीवोंपर अहैतुकी कृपाकर अपने अनेकों नाम प्रकट किए हैं तथा उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति डालदी है। किन्तु ऐसे हरिनामके कीर्त्तनमें स्थान-अस्थान, काल-अकाल, तथा पात्र-अपात्रका कोई विचार या नियम नहीं रखा है। हरिनाम करनेमें कोई बाधा नहीं। भोजनके समयमें, सोते समय, जागते समय, चलते समय, उठते-बैठते सभी समय हम हरिनाम कर सकते हैं। जन्म उच्च-कुलमें हो अथवा नीच कुलमें हो, हरिनाम कर सकते हैं। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री-पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, सभी हरिनाम ग्रहणके अधिकारी हैं। निर्जनमें हरिनाम ग्रहण किया जा सकता है, शोरगुलमें हरिनाम किया जा सकता है, अकेला हरिनाम किया जा सकता है, अनेक लोग मिलकर एकत्र हरिनाम कर सकते हैं, अवहेलासे, श्रद्धासे सभी अवस्थाओंमें हरिनाम ग्रहण किया जा सकता है।

फिर भी हरिनाम करतेमें कपटता करते हैं। हरि-नामका व्यवसाय करते हैं। लोगोंको ठगनेके लिये कपड़ेके भीतर नामकी झोली रखते है और कपट-दैन्य, तृणादपि सुनीचताकी विज्ञापनकी इच्छा तथा प्रतिष्ठाकी आशा हृदयमें पूर्णरूपसे रखते हैं। 'मैं और मेराका' भाव पूर्णमात्रा में रखकर अवैष्णवको वैष्णव तथा वैष्णवको अवैष्णव जानकर साधु-निंदा आदि तरह-तरहके नामापराध करते हैं। इस तरह दूसरोंको ठगने जाकर खुद ही ठग जाते हैं।

भगवानके नाम-समूह दो प्रकारके होते हैं—(क) मुख्य और (ख) गौण। मुख्य नाम भी दो तरहका होता है माधुर्यनाम और ऐश्वर्यनाम—श्रीकृष्ण, राधा-कान्त, गोपीजनवल्लभ, यशोदानन्दन, नन्दकुमार, मदनमोहन, गोविन्द, आदि माधुर्यभूत मुख्य नाम हैं, तथा वासुदेव, राम, नारायण, नृसिंह, विष्णु आदि ऐश्वर्यभूत मुख्यनाम हैं। भगवानके आंशिक या असम्यक आविर्भावात्मक नाम-समूह गौणनाम हैं जैसे-ब्रह्म, जगदीश, परमात्मा, ईश्वर, जनार्दन आदि। भागवानके मुख्य नाम-समूह नामीके साथ सम्पूर्ण अभिन्न हैं। उन नामोंमें भागवानकी सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्णरूपसे निहित रहती है, किन्तु गौण नामोंमें उनकी आंशिक शक्ति त्रिगुणके साथ सम्बन्धयुक्त होकर वर्त्तमान रहती है।

जीव भगवद् विमुखताके कारण मायाके राज्यमें त्रिविध गुणोंसे आबद्ध होकर त्रिविध दुःखोंके दावा-नलमें दग्ध होता है। वह जभी भगवत सेवासे विमुख होकर आत्मभोगकी कामना करता है, उसी समय माया पिशाची उसे पकड़ लेती है। साथ ही-साथ जीव यह भूल जाता है कि वह कृष्णका नित्य दास है और इस तरह मायाके गोरख-धंधेमें पड़कर इधर उधर भट-कने लगता है। वह अपनी कर्म वासनाओंके अनुसार स्थावर और जंगमकी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हैं। कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी स्वर्गमें तो कभी नरकमें कभी देवता, और कभी दैत्य होकर उपर नीचे मायाकी लाठी खाता फिरता है। ऐसे समयमें भाग्य-वश यदि कोई जीव संतोंका संग पालेता है। तो उसका भाग्योदय हो जाता है! वह उस साधुके संग-प्रभावसे अपना स्वरूप-तत्त्व जान पाता है। साधु (गुरुदेव) उसके हृदयमें भक्ति-लताका बीज वपन करते हैं तथा भगवन्नाम श्रवण और कीर्त्तनरूप जल सिंच-सिंच कर उस भक्ति लताको गोलोक--वृन्दावनमें कृष्णके पादपद्मोंमें पहुँचा देते हैं। वहाँ भक्ति-लताका प्रेम फल क्रमशः पुष्ट होकर पक पड़ता है। जीव उस प्रेम फलका आस्वादन कर कृतार्थ हो जाता है। किन्तु हाय! ऐसे भगवन्नाममें भी जीवोंकी रुचि नहीं होती।

जैव-धर्म

(गत संख्या ३, पृष्ठ ७२ के आगे)

जीवका नित्यधर्म शुद्ध और सनातन है।

"इस प्रकारके मिथ्या अभिमानसे युक्त होकर जीवका स्वधर्म विकृत होता है। विशुद्ध प्रेम ही जीव का स्वधर्म है। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिके रूपमें वही प्रेम विकृत भावसे लिंग शरीरमें उदित होता है। भोजन पान और जड़संगसुखरूप वह विकार अधिकतर घनीभूत होकर स्थूल शरीरमें दिखलायी देता है। अब देखिए,जीवका नित्यधर्म केवल शुद्ध अवस्थामें प्रकाशमान होता है। बद्ध अवस्थामें जिस धर्मका उदय होता है, वह नैमित्तिक है। नित्यधर्म स्वभावसे ही पूर्ण, शुद्ध और सनातन है। नैमित्तिक धर्मकी और किसीदिन अच्छी तरह व्याख्या करूँगा।

"श्रीमद्भागवत् शास्त्रमें जो विशुद्ध वैष्णवधर्म परिलक्षित होता है, वह नित्य धर्म है। जगतमें जितने तरहके धर्मोंका प्रचार है उन सभी धर्मोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जासकता है। नित्यधर्म, नैमित्तिकधर्म और अनित्यधर्म। जिन सब धर्मोंमें ईश्वरकी आलोचना नहीं है और आत्माका नित्यत्व नहीं है, वे सब अनित्य धर्म हैं। जिन धर्मोंमें ईश्वर और आत्माका नित्यत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु केवल अनित्य उपाय द्वारा ईश्वरकी कृपा लाभ करनेकी चेष्टा की जाती है वे सब नैमित्तिक धर्म हैं। जिनमें विमल प्रेमके द्वारा कृष्ण-दास्य प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है वे नित्य धर्म हैं। नित्य-धर्म देश, जाति तथा भाषाके भेदसे पृथक-पृथक नामोंसे परिचित होनेपर भी वह एक और परम उपादेय है। भारतमें जो वैष्णव-धर्म प्रचलित है वही नित्यधर्मका आदर्श है। फिर हमारे हृदयनाथ भगवान् शचीनंदनने जगत्को जिस धर्मकी शिक्षा दी है, वही वैष्णवधर्मकी विमल अवस्था होनेके कारण प्रेमानन्दी महापुरुषगण उसीको स्वीकार करते हैं, उसीका सहारा लेते हैं।"

यहीं पर संन्यासीजीने हाथ जोड़कर कहा—"प्रभो! मैं श्रीशचीनन्दनके प्रकाशित विमल वैष्णव धर्मका सर्व-उत्कर्ष सर्वदा देखता हूँ। शंकराचार्यके द्वारा प्रकाशित अद्वैतमतके हेयत्वका अनुभव अवश्य करता हूँ किन्तु मेरे मनमें एक बात आती है और उसे आपके श्रीचरणोंमें निवेदन किए बिना नहीं रह सकता। मैं उसे आपसे छिपाना नहीं चाहता। बात यह है कि प्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने जो घनीभूत प्रेमकी महाभाव-अवस्था दिखाई है, वह क्या अद्वैत-सिद्धिसे पृथक अवस्था है?"

श्रीशंकराचार्यजीका नाम सुनकर परमहंसबाबाने उन्हें दण्डवत्-प्रणाम किया। फिर कहा—"महाशय, "शंकरः शंकरः साक्षात्" इस बातको सदा स्मरण रखियेगा। शंकरजी वैष्णवोंके गुरु हैं। इसी कारण महाप्रभुने आचार्य कहकर उनका उल्लेख किया है। शंकर स्वयं पूर्ण वैष्णव थे। जिस समय वे भारतमें उदित हुए थे, उस समय उनके समान एक गुणावतारके होनेकी बहुत बड़ी जरूरत थी। भारतमें वेद-शास्त्रकी आलोचना और वर्णाश्रमधर्मके क्रिया-कलाप बौद्धोंके शून्यवादके चक्करमें पड़कर शून्यप्राय हो गये थे। शून्यवाद नितान्त निरीश्वर है। उसमें जीवात्माका तत्व कुछ कुछ स्वीकृत होनेपर भी वह धर्म बिल्कुल ही अनित्य है। उस समय ब्राह्मणगण प्रायः बौद्ध होकर वैदिक धर्मका परित्याग करते जारहे थे। असाधारण शक्तिशाली शंकरावतार शंकराचार्यने उदित होकर वेद शास्त्रके सम्मानकी स्थापना की—शून्यवाद को ब्रह्मवाद में परिणत कर दिया। यह कार्य असाधारण था। भारतवर्ष इस महान् कार्यके लिए श्रीशङ्कराचार्यका सदा ऋणी रहेगा। सभी कार्यों का जगत्में दो प्रकारसे विचार होता है। कुछ कार्य तात्कालिक होते हैं, और कुछ सार्वकालिक।

शंकराचार्यका यह कार्य तात्कालिक था। उसके द्वारा अनेक सुफलोंका उदय हुआ है। शंकराचार्यने जो नींव डाली, उसी नींवके ऊपर श्रीरामानुजाचार्य आदि आचार्योंने विशुद्ध वैष्णव-धर्मका महल खड़ा किया। अतएव शंकरावतार वैष्णव-धर्मके परम बन्धु और एक प्रागुदित आचार्य हैं।

"शंकराचार्यने जो विचार-मार्ग दिखलाया है, उसकी सम्पत्ति इस समय वैष्णवगण अनायास भोग करते हैं। जड़ और बद्ध जीवके लिए सम्बन्ध ज्ञान का बड़ाही प्रयोजन है। इस जड़ जगतमें स्थूल और लिंग देहसे चित्-वस्तु पृथक और अतिरिक्त है, इस सिद्धांतपर श्रीशंकर और वैष्णवगण दोनों ही विश्वास करते हैं। जीवकी सत्ताके विचारमें उन दोनोंके बीच कोई पार्थक्य नहीं है। जड़ जगतके सम्बन्ध-त्यागका नाम मुक्ति है, इस बातको दोनों ही मानते हैं। मुक्ति-लाभ होने तक श्रीशंकर और वैष्णव आचार्योंके बीच अनेक-प्रकारका मतैक्य है। हरि भजन के द्वारा चित्त शुद्धि और मुक्ति-लाभ होती है—यह भी शंकरकी शिक्षा है। केवल इस विषय में शंकर चुपचाप हैं कि मुक्ति लाभके बाद जीवकी क्या अपूर्व-गति होती है। शंकर इस बातको अच्छी तरह जानते थे कि हरि भजनके द्वारा जीवको मुक्ति के मार्गमें अच्छी तरह चला सकनेसे ही जीव क्रमशः भजन-सुखमें आबद्ध होकर शुद्ध-भक्त हो जायगा। इसी कारण शंकरने केवल मार्ग दिखला दिया और अधिक कुछ वैष्णव धर्मका रहस्य नहीं खोला। उनके सब भाष्योंको जिन्होंने विशेष ध्यानपूर्वक पढ़ा है, वे शंकरके गूढ़मतको समझ सकते हैं। जो लोग केवल उनकी शिक्षाके बाहरी अंशको लेकर उसीकी उधेड़-बुनमें अपना समय बिताते हैं, वे ही वैष्णवधर्मसे दूर बने रहते हैं।

"एक प्रकारसे विचार करने पर अद्वैत-सिद्धि और प्रेम एक ही जान पड़ते हैं। अद्वैत-सिद्धिका जो संकुचित अर्थ किया जाता है उससे उसमें और प्रेममें पार्थक्य हो पड़ता है। प्रेम क्या पदार्थ है?-इस पर विचार किजिए। एक चित् पदार्थ अन्य चित् पदार्थके प्रति जिस धर्मके द्वारा स्वभावतः आकृष्ट हो, उसीका नाम 'प्रेम' है। दो चित् पदार्थोंके पृथक अवस्थान बिना प्रेम-सिद्ध नहीं होता। समस्त चित् पदार्थ जिस धर्मके द्वारा परम चित् पदार्थरूप कृष्णचन्द्रकी ओर नित्य आकृष्ट होते हैं उसका नाम है 'कृष्ण-प्रेम'। कृष्णचन्द्रका नित्य पृथक् अवस्थान और जीव-समूहका उनके प्रति जो अनुगतभावके साथ नित्य पृथक अवस्थान है, वह प्रेम-तत्त्वमें नित्य-सिद्ध तत्त्व है। आस्वादक, आस्वाद्य और आस्वादन इन तीनों भावों की पृथक स्थिति सत्य है। यदि प्रेमके आस्वादक और आस्वाद्य एकही हो तो प्रेम नित्य-सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अचित् संबंध शून्य चित् पदार्थकी शुद्ध अवस्थाको अद्वैत सिद्धि कहा जाय तो प्रेम एवं अद्वैत-सिद्धि एक ही चीज ठहरते हैं। किन्तु आधुनिक शंकर-मतावलम्बी पण्डितगण चित् धर्मकी अद्वैत-सिद्धिसे सन्तुष्ट न होकर चित्-वस्तुकी एकता साधनके यत्नद्वारा वेदोदित अद्वय तत्त्वसिद्धिका प्रचार न कर उसके विकार का प्रचार करते हैं। उससे प्रेमके नित्यत्वकी हानि होनेसे वैष्णवोंने उस सिद्धान्तको बिलकुल अवैदिक सिद्धान्त ठहराया है। शंकराचार्यने केवल चित् तत्त्व के विशुद्ध अवस्थानको अद्वैतावस्था कहा है; किन्तु उनके आर्वाचीन चेले गुरुके गूढ़भावको समझ न पाकर क्रमशः उनको अपदस्त (अपमानित) करते जा रहे हैं। विशुद्ध प्रेमकी सब अवस्थाओंको मायिक कह कर वे मायावाद नामक एक सर्वाधम मतका जगत्में प्रचार करते हैं। मायावादी लोग पहलेतो एकके सिवा और अधिक चित् वस्तुका होना स्वीकार नहीं करते। वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि चित् वस्तुमें प्रेम धर्म है। वे कहते हैं कि ब्रह्म जबतक एकावस्थाको प्राप्त है, तबतक वह मायासे अतीत है। जब वह कोई स्वरूप ग्रहण करता है तथा जीवरूपसे नाना तरहके आकारोंको प्राप्त करता है, तब वह मायाग्रस्त होता है। सुतरां वे भगवानके नित्यशुद्ध चिद्घन विग्रहको मायिक मानते हैं। इसी कारण वे प्रेम और प्रेम-विकार को मायिक मानकर अद्वैत ज्ञानको निर्मायिक(मायासे-परे)कहकर उसकी स्थापना करते हैं। उनके भ्रान्त-मतका

यह अद्वैत-सिद्धि और प्रेम कभी एक पदार्थ नहीं हो सकता।

"किन्तु भगवान् श्रीचैतन्यदेवने जिस 'प्रेमका' आस्वादन करनेके लिए उपदेश दिया है और अपने लीला चरित्रद्वारा जिसकी शिक्षा जगत्को दी है, वह मायासे सम्पूर्ण अतीत है-विशुद्ध अद्वैतसिद्धिका चरम फल है। महाभाव उसी प्रेमका विकार विशेष है। उसमें कृष्ण प्रेमानन्द अत्यन्त प्रबल होता है। सुतरां संवेदक और संवेद्यका पार्थक्य और निगूढ़ सम्बंध एक अपूर्व अवस्थामें पहुँचादेता है। तुच्छ मायावाद इस प्रेमके किसी अवस्थामें कोई कार्य नहीं कर सकता।"

जीवका नित्य और नैमित्तिक धर्म,

संन्यासी ठाकुरने आदरके साथ कहा-"प्रभो! यह मेरे हृदयमें अच्छी तरह बैठ गया कि मायावाद बहुत ही अकिञ्चित्कर है, उसके सम्बन्धमें मुझे जो संशय था वह भी आपकी कृपासे आज दूर हो गया। अपने इस मायावादी संन्यासी वेषको त्याग करने की मेरी बड़ी इच्छा होती है"।

बाबाजी ने कहा-"महात्मन्! मैं वेशके ऊपर किसी तरहका राग द्वेष रखने का उपदेश नहीं करता। अन्तकरणका धर्म निर्मल होने पर वेष सहजमें ही निर्म्मल हो जाता है। जहाँ बाह्य वेषका विशेष आदर है, वहाँ आन्तर धर्मपर विशेष रूपसे ध्यान नहीं दिया जाता। मेरी समझमें पहले अन्तःशुद्धि करके जब साधुओंके बाहरी आचार में अनुराग होता है, तभी बाह्य वेष आदि निर्दोष होते हैं। आप अपने हृदयको सम्पूर्णरूपसे श्रीकृष्ण चैतन्यके अनुगत कीजिये,इसके बाद जिन बाह्य सम्बन्धोंमें रुचि होगी,उनका आचरण कीजियेगा। श्रीमन्महाप्रभुके इस उपदेशको सर्वदा स्मरण रखियेगा--

"मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाइया।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हञा॥
अन्तर निष्ठा कर, बाह्ये लोक-व्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिवेन उद्धार॥"

(चैः चः मध्य १६।२३८-३९)

अर्थात् बाहरमें लोगोंको दिखानेके लिये, मर्कट वैराग्य (बंदरका जैसा केवल फल-फूल खा कर वैराग्य) नहीं करना, किन्तु मनकी वासनाओंको त्याग कर आवश्यकतानुसार विषयका भोग करना चाहिए। भीतर-ही-भीतर भगवन्निष्ठा रखते हुए बाहरमें लौकिक कर्मोंका आचरण करना चाहिए। इससे श्रीकृष्ण तुमको अति शीघ्र संसार से मुक्त करेंगे।

संन्यासी ठाकुरने इस विषयका भाव समझकर फिर वेश परिवर्त्तनकी बात नहीं उठाई। हाथ जोड़कर कहने लगे- 'प्रभो! मैंने जब आपका शिष्य हो कर चरणोंका आश्रय लिया है तब आप जो उपदेश करेंगे, उसे बिना तर्क किये मैं शिरोधार्य्य करूँगा। आपका उपदेश श्रवण करके मैं समझ गया हूँ कि विमल कृष्ण-प्रेम ही एकमात्र वैष्णव-धर्म है। वही जीवका नित्य-धर्म है। वही धर्म पूर्ण, शुद्ध और सहज है, नाना देशोंमें नानाप्रकारके जो धर्म प्रचलित हैं, उन धर्मोंके विषयमें मैं कैसी भावना करूँ?

बाबाजीने कहा-"महात्मन्, धर्म एक है,दो या अनेक नहीं। जीवमात्र का ही एक धर्म है। उसे धर्मका नाम वैष्णव-धर्म है। भाषाभेद, देशभेद और जातिभेदसे धर्मभेद नहीं हो सकता है। लोग जैव-धर्म को नाना नामोंसे पुकारते हैं;किन्तु पृथक धर्मकी सृष्टि नहीं कर सकते हैं। परम-वस्तुमें अणु-वस्तुका जो निर्मल चिन्मय प्रेम है, उसे जैव-धर्म अथवा जीव सम्बन्धीय धर्म कहते हैं। जीव सकल नाना प्रकृतियोंसे युक्त हैं, इसलिये जैव-धर्म भी कुछ प्राकृत आवरणोंके द्वारा विकृत रूपमें दीख पड़ता है। इसी कारण जैव-धर्मकी शुद्धावस्थाको वैष्णव धर्मके नामसे अभिहित किया गया है। अन्यान्य धर्मोंमें जिस परिमाणमें वैष्णव-धर्म है, उसी परिमाणमें वह धर्म शुद्ध है।

"कुछ दिन पहले मैंने श्रीव्रजधाममें भगवत्पार्षद श्रीसनातन गोस्वामीके श्रीचरणोंमें एक प्रश्न किया था। मुसलमानी मजहबमें जो 'इश्क' शब्द है, उसका अर्थ निर्मल प्रेमसे है या और कुछ-यही मेरा प्रश्न था,। गोस्वामीजी सब शास्त्रोंमें पंडित है, खास कर अरबी फारसीमें तो उनके पंडित्यकी सीमा ही नहीं। श्रीरूप, श्रीजीव गोस्वामी आदि अनेक महामहोपाध्याय उस सभामें उपस्थित थे। श्रीसनातन गोस्वामीजीने कृपा करके मेरे प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया था—

हाँ 'इश्क' शब्दका अर्थ प्रेम ही है। मुसलमान उपासकगण ईश्वर भजनके विषयमें भी 'इश्क' शब्द का व्यवहार करते हैं;किन्तु प्रायः'इश्क'शब्दसे मायिक प्रेम ही उनका लक्ष्य रहता है। लैला-मजनुका इतिहास और कविवर हाफिजके इश्क वर्णनको देखनेसे जान पड़ता है कि यवनाचार्य्यगण शुद्ध चित् वस्तु क्या है, यह उपलब्धि नहीं कर सके, स्थूल देहके प्रेमको या कभी लिंगदेहके प्रेमको उन्होंने 'इश्क' कहा है।

"विशुद्ध चिद्वस्तुको अलग करके कृष्णके प्रति जो विमल प्रेम होता है, उसका उन्होंने अनुभव नहीं किया। वैसा प्रेम मैंने यवन आचार्य्योंके किसी भी ग्रंथमें नहीं देखा। वह केवल वैष्णवग्रंथोंमें ही देख पाता हूँ। यवनाचार्य्योंका "रूह" शुद्ध जीव है-ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। बल्कि बद्ध जीवको ही वे'रूह' कहते हैं, ऐसा जान पड़ता है, अन्य किसी भी धर्म में मैंने विमल कृष्णप्रेमकी शिक्षा नहीं देखी। वैष्णव धर्ममें साधारणतःकृष्णप्रेमका उल्लेख है। श्रीमद्भागवत में "प्रोज्झित कैतवधर्म" रूप श्रीकृष्ण प्रेम विशद रूप से वर्णित हुआ है। किन्तु मेरा विश्वास है कि श्रीकृष्णचैतन्यके पहले किसीने भी विमल कृष्णप्रेम-धर्मकी दीक्षा नहीं दी है। मेरी बात पर अगर तुम्हारी श्रद्धा होतो यह सिद्धांत ग्रहण करो।"मैंने यह उपदेश सुन कर गोस्वामीजीको बार बार दंडवत् प्रणाम किया"।

संन्यासीठाकुरने भी बाबाजीके मुखसे यह सुनकर उस समय दंडवत् प्रणाम दिया।

परमहंस बाबाजी ने कहा— "हे भक्तश्रेष्ठ ! अब आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर देता हूँ; एकाग्र चित्तसे सुनिए। जीव सृष्टि और जीवगठन ये शब्द मायिक सम्बंधमें व्यवहृत होते हैं। जड़ीय वाक्य कुछ--कुछ जड़--भावका आश्रय लेकर कार्य करते हैं। भूत,भविष्य और वर्त्तमान इन तीन अवस्थाओंमें जो काल विभक्त है,वह मायाभूत जड़ीय काल है। चित् जगतका जो काल है वह सर्वदा वर्त्तमान है। उसमें भूत भविष्यरूप विभागत व्यवधान या अंतर नहीं है। जीव और कृष्ण उसी कालमें विराजमान रहते हैं। अतएव जीव नित्य और सनातन हैं। इस जड़ जगत्में आबद्ध होने के बाद जीवकी सृष्टि, गठन, पतन इत्यादि मायिक कालके अन्तर्गत ये सब धर्म जीवमें आरोपित हुये हैं, जीव अणुपदार्थ होनेपर भी चिन्मय और सनातन है। जड़ जगत्में आनेसे पहलेही उसका गठन होता है। चित जगत्में भूत-भविष्यरूप अवस्था न रहनेसे उस कालमें जो कुछ होता है, वह सभी नित्य वर्त्तमान है। जीव और जीवका धर्म वास्तवमें नित्य, वर्त्तमान और सनातन है। यह बात मैंने कही तो अवश्य,किन्तु आपने जहाँ तक शुद्ध चित् जगत्का भाव पाया है, वहीं तक आप को इस कथनके यथार्थ अर्थकी उपलब्धि होगी। मैंने आपको आभासमात्र दिया है, आप चित्समाधिके द्वारा इसके अर्थका अनुभव कर लीजियेगा। जड़-जात युक्ति और तर्क द्वारा ये सब बातें आपकी समझ में नहीं आयेंगी। जड़ बंधनसे अनुभव शक्तिको जितना ढीला कर सकेंगे, उतना ही जड़ातीत चित्जगत्का अनुभव उदित होगा। पहले अपने शुद्ध स्वरूपको शुद्ध चिन्मय कृष्णनामका अनुशीलन करते-करते जैव-धर्म प्रबलरूपसे उदित होगा। अष्टांग योग या ब्रह्म-ज्ञानके द्वारा चिद् अनुभव विशुद्ध न होगा। साक्षात कृष्णका अनुशील ही नित्यसिद्ध धर्मका उदय करानेमें समर्थ है। आप निरंतर उत्साह के साथ हरिनाम कीर्त्तन कीजिये। हरिनामका अनुशीलन ही एकमात्र चिदनुशीलन है। कुछ दिन हरिनाम करते-करते उस नामपर अपूर्व अनुराग उदय होगा। उस अनुरागके साथ-साथ चित्जगतका अनुभव भी उदित होगा। भक्तिके जितने प्रकारके अंग है, उनमें श्रीहरिनामका अनुशीलन ही प्रधान और शीघ्र फल देने वाला है। इसीसे श्रीकृष्णदासके उपादेय ग्रंथमें यह बात श्रीमहाप्रभुका उपदेश कहकर लिखी हुई है—

> भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
> कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
> तार मध्ये सर्व—श्रेष्ठ नाम-संकीर्त्तन।
> निरपराधे नाम कैले पाय प्रेमधन॥
> (चैः चः अन्त्य ४।७०-७१)

अर्थात् सब भजनोंमें नवविधा भक्ति श्रेष्ठ है जो कृष्णप्रेम और कृष्णको देनेकी महाशक्ति रखती है। उसमें (नवधाभक्ति में) नाम संकीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है,

निरपराध, होकर कृष्ण नाम संकीर्त्तन करनेसे प्रेमधन की प्राप्ति होती है ।

"महत्मन् ! यदि आप यह जिज्ञासा करें कि 'वैष्णव किसे कहना चाहिये ! तो मैं इसके उत्तरमें इतना ही कहूँगा कि जो अपराधोंको त्याग कर भावसे कृष्णनाम करता है, वही वैष्णव है। वैष्णव तीन प्रकारके होते हैं- कनिष्ठ, मध्यम, और उत्तम। जो बीच-बीचमें कृष्ण नाम लेते हैं, वे कनिष्ठ वैष्णव हैं। जो निरंतर कृष्ण नाम लेते हैं, वे मध्यम वैष्णव हैं। और जिन्हें देखते ही मुखसे हरिनाम निकलने लगे, वे उत्तम वैष्णव हैं। महाप्रभुकी शिक्षाके अनुसार और किसी लक्षणसे वैष्णवका निर्णय न करना चाहिये।"

संन्यासी ठाकुर बाबाजीकी शिक्षामृतमें निमग्न होकर

"हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥"

यह नामगान करते हुए नृत्य करने लगे। उस दिन उनकी हरिनाममें रुचि उत्पन्न हुई। गुरुके चरण-कमलोंमें साष्टांग प्रणाम करके उन्होंने कहा—"प्रभो !

दीनबन्धो !! इस दीनपर कृपा कीजिए।"

श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा और कार्त्तिक-व्रतका

निमन्त्रण-पत्र

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कंसटीला, मथुरा (उ०प्र०)
३ अगस्त १९५५

सादर सम्भाषणपूर्वक निवेदन—

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने इस वर्ष श्रीश्रीमथुराधाममें कार्त्तिक-व्रत, उर्ज्जव्रत या दामोदर-व्रत पालनके उपलक्ष्यमें श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमाका विराट आयोजन किया है। आगामी १३ कार्त्तिक, ३१ अक्टूबर सोमवारसे १३ अग्रहायण (मार्गशीर्ष), २९ नवम्बर १९५५, मङ्गलवार पर्यन्त नियमसेवा और परिक्रमाकी जायगी। परिक्रमा और नियमसेवाके साथ-साथ प्रत्येक दिन प्रवचन, कीर्त्तन, वक्तृता, इष्टगोष्ठी और विग्रह-सेवा आदि विविध भक्तिके अङ्गोंका पालन किया जायगा। बङ्गदेशके यात्रियोंके लिये कलकत्तेसे एक रिजर्व ट्रेन छूटेगी जो यात्रियोंको रास्तेमें अनेक तीर्थोंका दर्शन कराती हुई यथा समय मथुरामें पहुँचेगी।

हम धर्म-प्राण सज्जनोंको भक्तिके इस शुद्ध अनुष्ठानमें बन्धु बान्धवोंके साथ योग-दान कर इस अपूर्व सुयोगको ग्रहण करनेके लिए अनुरोध करते हैं। विशेष जानकारीके लिए "सम्पादक, श्रीभागवत-पत्रिका" के निकट पत्र लिखें।

निवेदक—

सभ्यवृन्द,
श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति।